आचार्य काका कालेलकर

डॉ. रमेश गुप्त 'मिलन'

आचार्य काका कालेलकर

आचार्य काका कालेलकर

आचार्य काका कालेलकर

(सम्पूर्ण जीवन-वृत्त)

डॉ. रमेश गुप्त 'मिलन'
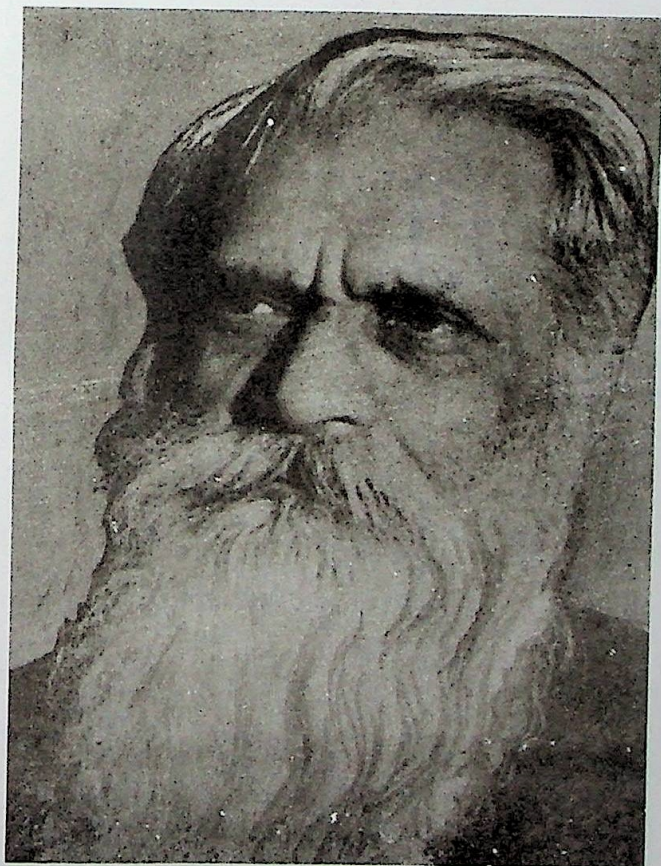
करंट बुक हाऊस

Kurrent Book House, N. Delhi

काका साहब की अनन्य सेविका
समन्वय की साधिका
सरल, सौम्य, आदरणीया दीदी
कुसुम शाह
को
विनम्र समर्पण
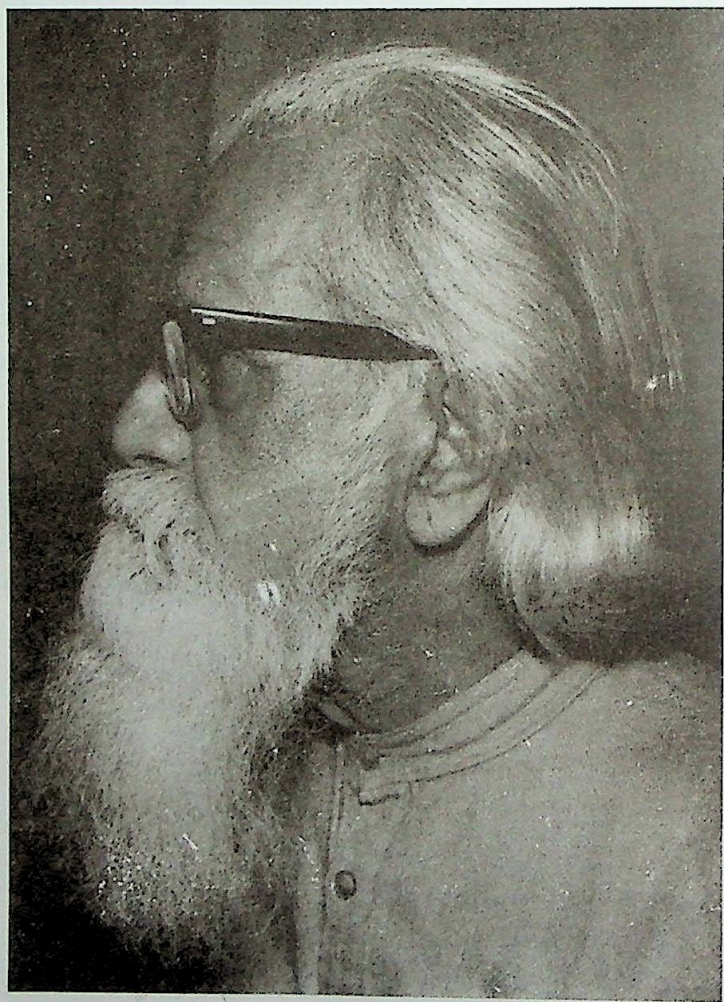
सत्य + प्रेम + करुणा =
काका साहब कालेलकर

—रामहरि (विनोबा)
2-9-1979

पूज्यश्री के साथ आत्मीय संबंध मेरी सबसे बड़ी पूजा

हजारों वर्षों से अनवरत चली आ रही भारतीय ऋषियों-महर्षियों की महान परंपरा में उच्च स्थान पर स्थित एवं अलौकिक प्रतिभाशाली पूज्यश्री काका साहब का कृपापूर्ण सोलह वर्ष का लम्बा सान्निध्य न जाने पूर्व जन्मों में किए गए किन पुण्यों का फल है। उनकी भव्य एवं विशाल काया पर विराजमान श्वेत दाढ़ी और लम्बे-लम्बे केश अहर्निश हम शिष्यों में वात्सल्य रूपी पावन गंगा का संचार करते रहते थे। उनके हिमालय सदृश भाल पर विराजमान तीन पूर्ण रेखाएँ सूचित करती थीं कि ये महायोगी त्रिगुणातीत हैं।

मैं पूज्यश्री की यात्राओं में सोलह वर्ष तक उनके साथ रही। जब वे नाना प्रकार के विषयों पर प्रवचन करते और लोगों की हर प्रकार की समस्याओं का समाधान करते तो उनके व्यक्तित्व के साथ कृत्स्नविद् (सर्वज्ञानी, त्रिकालदर्शी) विशेषण स्वयमेव जुड़ जाता था। वे कर्म का रहस्य जानते थे। जो व्यक्ति कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को पहचानता है, उसके लिए सब कर्म सांगोपांग सिद्ध होकर शुभ परिणामी बनते हैं और वे अशुभ से मुक्त होते हैं अर्थात् पूज्यश्री कृत्स्नविद् के साथ कृत्स्नकर्मविद् भी थे।

पूज्यश्री का समदर्शी, तत्वदर्शी एवं यशस्वी व्यक्तित्व 95 वर्ष की आयु तक अपनी ज्ञान-गंगा का लगातार आस्वादन दुनिया को निःसंकोच कराता रहा। 92वें वर्ष की आयु तक उन्होंने संसार के कोने-कोने में जाकर बापू के संदेश को एवं भारतीय संस्कृति के आत्मारूप समन्वय के विचार को प्रचारित किया। यह महान यज्ञ किसी लौकिक प्रतिभा के बस की बात

न थी, इसके पीछे थीं उनकी महान अलौकिक आध्यात्मिक शक्तियाँ। जी हाँ! उनका व्यक्तित्व दिखने में बिलकुल सादा एवं अकृत्रिम था किंतु उनके मुखमण्डल पर व्याप्त तेज एवं आँखों की दिव्य ज्योति से उस अलौकिक प्रतिभा का परिचय अनायास ही मिल जाता था। वे एक जीवनमुक्त सिद्ध-पुरुष थे, जो कि इस शरीर में रहते हुए भी ब्रह्मलीन थे। किन्तु वे किसी कल्पित ब्रह्म में लीन नहीं थे, बल्कि विश्वात्मैक्य स्वरूप ब्रह्म में ही लीन थे। उनके व्यक्तित्व में सत्य, चैतन्य और आनंदमय तत्व समाए रहते थे। यद्यपि बाद के कुछ वर्षों में उनकी लौकिक स्मृति क्षीण होती जा रही थी किंतु आंतरिक चैतन्यता में कभी कमी नहीं दिखी। कभी सपनों में, कभी जाग्रत अवस्था में उनका चिंतन-प्रवाह सतत बहता रहता था, जिसे वे कभी डायरी में लिखते थे। अर्धनिद्रा-योगनिद्रा की अवस्था में चलती समाधि या मंत्रजाप का अनुभव व श्रवण भी हमें सौभाग्य से प्राप्त होता था। उन अविस्मरणीय क्षणों में खयाल आता था, सचमुच काका साहब सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म में लीन होकर जीवनमुक्ति की परम पावन अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं।

यह सिद्धपुरुष किसी भी प्रकार के प्रदर्शन एवं गुरुडम के पक्षपाती नहीं थे। जब कभी वे घण्टों बाद समाधि की अवस्था से जागते तो हम पूछते, 'पूज्यश्री आप कहाँ थे, आपने क्या देखा?' तो वे टालमटोल कर मुस्कराते और फिर निद्रा के बहाने लेट जाते। जीवन-योग की साधना के उस उच्चतम शिखर पर पहुँचने के बाद भी ऐसी विनम्रता विरलों में ही होती है। मृत्यु से कुछ दिन पूर्व काका साहब के शब्द—"मृत्यु को मैंने आने के लिए कब मना किया है? बस प्रभु से मेरी इतनी प्रार्थना है कि असावधानी की अवस्था में मेरे ऊपर मृत्यु का पंजा न पड़े।"—"बाहर कौन बैठा है, उससे कहो मैं उसके दर्शन के लिए तैयार हूँ।" तब हम लोग अनभिज्ञ थे लेकिन पूज्यश्री जीवनमुक्तावस्था को त्यागकर पूर्ण स्वरूप से ब्रह्म में लीन होने की तैयारी कर रहे थे।

21 अगस्त, 1981 का दिन। प्रातः तीन बजे से पूज्यश्री एक अपूर्व अवस्था को प्राप्त हो चुके थे। काका साहब के मुखमण्डल पर उद्दीप्त तेज 4 डिग्री शारीरिक ताप (ज्वर) की मात्रा से अधिक वर्द्धमान था। उनके दोनों हाथ परस्पर आलिंगन से आबद्ध और होंठ धीरे-धीरे हिल रहे थे। पूज्यश्री

का तात्कालिक दर्शन अलौकिक, अनुपमेय एवं अभूतपूर्व अनुभवों का सागर सभी के हृदयों में उमड़ रहा था। पूज्यश्री के कमरे की घड़ी ने दो बजकर तीस मिनट का घण्टा बजाया और पूज्यश्री उन अंतिम पन्द्रह मिनटों में अभूतपूर्व अलौकिक दर्शन कराने लगे। पूज्यश्री के महान तेज से युक्त नेत्र सामने दीवारों पर लगे ओंकार, जरथुष्ट्र, यीशु, बुद्ध की मूर्तियों को देखकर आनंद से पुलकित होते जाते थे। ब्रह्ममुहूर्त से चली आ रही वह महापरिनिर्वाण की यात्रा 2.45 पर हमारे जीवनमुक्त गुरुपादश्री को ब्रह्मलीन कर ही गई।

अशांत मन और असहाय स्थिति के इन क्षणों में पूज्यश्री के शब्द मेरे कानों में गूँजने लगे—"कु-सु-म, कु-सु-म! कुसुम! तू चिंता मत कर। तू विश्वात्मैक्य की, ब्रह्म की उपासना कर। हर पल मैं तेरे साथ हूँ।"

प्रिय भैया मिलनजी भाषा वर्ग के माध्यम से संस्था से जुड़े और उन्होंने पूज्य काका साहब जैसी विभूति के साथ आत्मिक संबंध बनाकर उन्हें जाना, समझा और उनके आदर्शों को हृदयंगम किया। डॉ. मिलनजी ने काका साहब के निर्मल तथा तपोमय जीवन, उनके संस्कारपूर्ण कार्यों तथा उनकी पावन स्मृति को लेखनी के माध्यम से अपनी भावांजलि समर्पित की है।

काका साहब जैसे अजातशत्रु के प्रति मिलनजी ने इस कृति में अथाह श्रद्धा के साथ पूज्यश्री के सर्वधर्म समभाव को विश्वशांति और विश्वमैत्री के जीवनमंत्र के रूप में उद्‌घाटित किया है, जो एक महायज्ञ जैसा जन-कल्याणकारी है। मिलनजी का यह पुण्य प्रयास प्रशंसनीय और अभिनंदनीय है।

अंत में मैं पूज्यश्री की पावन स्मृति को अपनी अश्रुसिक्त श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके समन्वयकारी विचारों तथा उनकी योजना-प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि के लिए संकल्प व्यक्त करती हूँ।

ओम् नमो नारायणाय पुरुषोत्तमाय।

—**कुसुम शाह**
मंत्री, गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा,
सन्निधि-राजघाट, नई दिल्ली-2
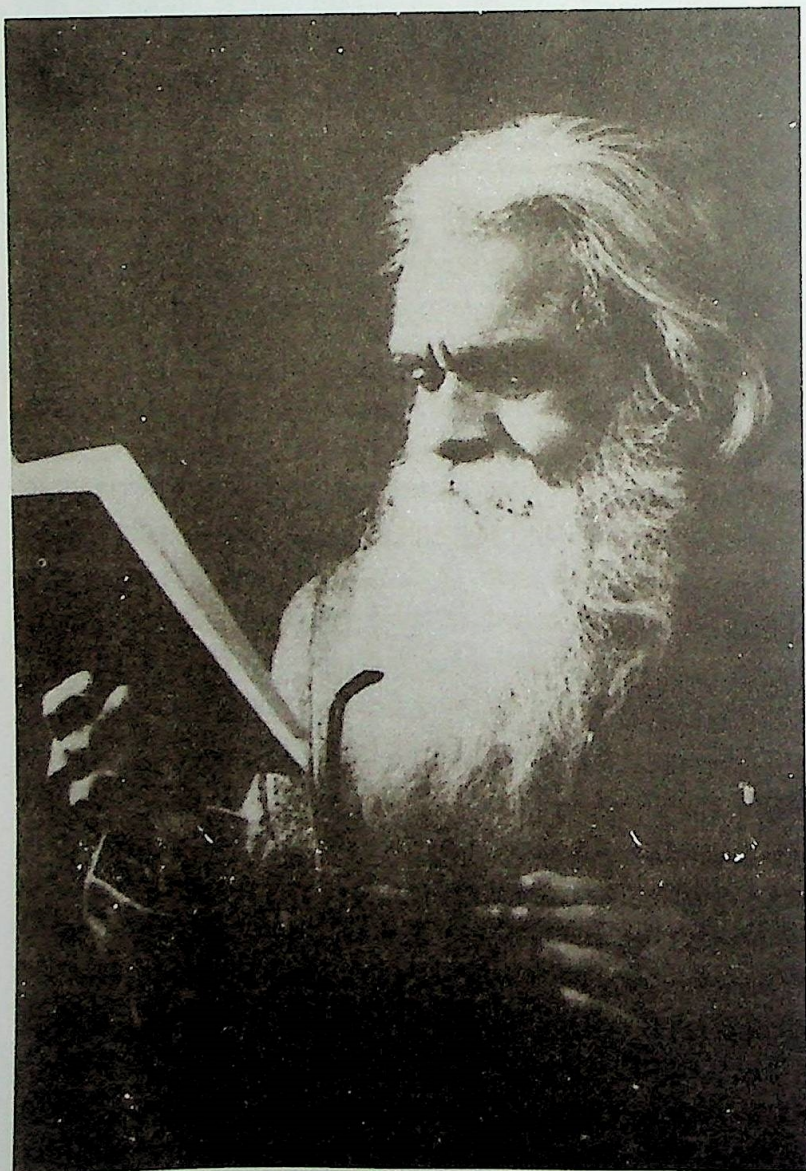
समन्वय के उद्‌गाता काका कालेलकर

आचार्य काका साहब कालेलकर स्वतंत्रता सेनानी, राष्ट्रभाषा तथा संस्कृति के समर्थक, समाज, राष्ट्र एवं साहित्यसेवी थे। वह जीते-जागते नित्य प्रगतिशील कोष थे। भाषा कोविद् तो वे थे ही। जन्म से महाराष्ट्रीय होते हुए भी गुजराती के मूर्धन्य साहित्यकारों और मनीषियों में उनकी गणना होती है। उनकी रसिकता अदम्य तथा शब्द-विन्यास विलक्षण था। वे 'समन्वय' शब्द को बहुत प्यार करते थे। नदियों को 'लोकमाता' की संज्ञा देने वाले, 'नगरपालिका' आदि शब्द के जनक तथा राष्ट्रीय, धार्मिक एवं सांस्कृतिक समन्वय के उद्‌गाता के साथ मुझे भी निकट के परिचय तथा दर्शनों का सुयोग मिला।

प्रस्तुत कृति में अपनी बुद्धि-सामर्थ्य के अनुसार उनके व्यक्तित्व, कृतित्व तथा उनकी राष्ट्रसेवा को श्रद्धा-भक्ति के साथ अपने हृदय-पुष्प अर्पित किए हैं। यद्यपि उनके विराट स्वरूप को लेखनीबद्ध करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। उनकी स्मृतियों से मेरा हृदय आप्लावित है। काका साहब की ज्ञान-गंगा में कुछ गोते लगाने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ। उनके अनमोल और अक्षय खजाने से मैंने अपने परिचय के संक्षिप्त काल में अपनी झोली को भी क्षमतानुसार मोतियों से भर लिया।

इसके लिए किसी को श्रेय दिया जा सकता है तो वह हैं 'कुसुम शाह'।

सन् 1978 का वर्ष, नवभारत टाइम्स समाचारपत्र में गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा का भारतीय भाषाओं के शिक्षण का विज्ञापन पढ़कर सीधा सन्निधि राजघाट पहुँचा। यहाँ सर्वप्रथम श्री हसमुख व्यास (भाई) तथा कुसुम बहन से भेंट हुई। दोनों से प्रथम साक्षात्कार में आत्मीयता और श्रद्धा का जो भाव उत्पन्न हुआ, तब से अब तक उसमें अभिवृद्धि ही हुई है। गुजराती

भाषा वर्ग में प्रवेश लेकर एक विद्यार्थी के रूप में नियमित रूप से भाषा सीखने के उद्देश्य से संस्था में आने-जाने लगा। संस्था के विविध कार्यकलापों में भी रुचि लेने लगा। संस्था का पवित्र वातावरण आत्मा में रच-बस गया। और ऐसा होता भी क्यों नहीं, वहाँ ऋषितुल्य मनीषी काका साहब कालेलकर, माननीया सरोजिनी नाणावटी, हसमुख भाईजी, कुसुम बहन, उदयसिंहजी तथा बीना हाण्डा जैसे संस्था के अनेक सहृदयीजन निवास करते थे।

पूज्यश्री के कक्ष में जब उनके दर्शन किए तो जीवन में पहली बार एक अलौकिक आनंद का अनुभव हुआ। फिर तो उनके दर्शनों का नियमित रूप से सौभाग्य प्राप्त होता रहा। काका साहब की श्रवणशक्ति क्षीण होने के कारण मैंने अपनी जिज्ञासाओं और कौतूहल को स्लेट पर लिख-पढ़कर शांत किया। उनके द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर भी दिए। उनका एक प्रश्न था—देशसेवा तुम किस भाषा के माध्यम से करना चाहोगे? मेरा उत्तर था—'हिन्दुस्तानी भाषा के माध्यम से।' इस पर काका साहब ने मुस्कराकर आशीर्वाद व्यक्त किया।

एक दिन की घटना का उल्लेख करना चाहूँगा—काका साहब सरोज बहन और कुसुम बहन का सहारा लेकर सन्निधि के बाहर अम्बेडकर स्टेडियम तथा राजघाट के बीच वाली सड़क के फुटपाथ पर संध्याकाल में मंद गति से भ्रमण कर रहे थे। मैंने जल्दबाजी में उनके चरण स्पर्श कर लिए तो वे वहीं रुक गए और समझाते हुए कहने लगे कि "देखो चलते हुए आदमी के कभी चरण स्पर्श मत करना, क्योंकि इससे उस आदमी के गिरने का खतरा रहता है, खास तौर से मेरे जैसे वयोवृद्ध के लिए; और फिर श्रद्धा व्यक्त करने का दूसरा भी एक समानांतर संस्कार है—और वह है करबद्ध नमस्कार।"

पूज्यश्री के सम्पर्क में आने के बाद उनकी अंतिम यात्रा तक उनके जीवन तथा कार्यकलापों का साक्षी रहा। महर्षि के पार्थिव शरीर को कंधा देना भी मेरे पूर्व जन्मों का सुफल था।

व्यक्तिगत साधना और सामूहिक साधना एक साथ चलाने वाले काका साहब का प्रभाव सारे समाज और राष्ट्र पर था। उनकी साधना जितनी व्यक्तिगत थी उतनी ही वह विश्व-साधना भी थी। सारे विश्व की यात्रा करके उन्होंने समन्वय की संस्कृति को जो विस्तार दिया, आज भी वह

अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर परिलक्षित है।

अब भी जब गांधीजी राजघाट की अपनी समाधि के एक छोर से काका साहब को आवाज लगाते हैं तो यमुना पुल के निकट स्थित अपने अंत्येष्टि स्थल से वहीं पहुँचकर काका साहब कुछ नया करने की प्रवृत्ति साध लेते हैं और उस प्रवृत्ति-साधना की पूर्ति करते हैं सन्निधि में कुसुम शाह, डॉ. रमेश भारद्वाज तथा संस्था के अन्य समर्पित कार्यकर्त्ता।

''देश किसी भी धर्म और सम्प्रदाय से बड़ा होता है। आपसी मतभेद भुलाकर राष्ट्रधर्म को अपनाएँ, उसके लिए जीवन को समर्पित करें।'' काका साहब का यह संदेश बच्चों, युवाओं तथा वृद्धों सभी के लिए है। काका साहब का जीवन और उनके कार्य आशा और विश्वास के प्रकाश स्तंभ हैं। इस कृति में दत्तू (काका साहब) के शिशु-चरित्र, बाल-चरित्र के अनेक प्रसंग प्रेरणादायी और मनोरंजक हैं जो कृष्ण के समरूप हैं।

योगयुक्तः विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः
सर्वभूतात्म भूतात्मा कुर्वन्न अपि न लिप्यते।।

गीता के पाँचवें अध्याय के इस सातवें श्लोक में योगीराज कृष्ण बताते हैं कि जिसने योग साधा है, जिसने हृदय को विशुद्ध किया है, जिसने मन पर काबू पाया है, जिसने इंद्रियों को जीता है और जो भूतमात्र को अपने जैसा ही समझता है, वह मनुष्य रोज कर्म करते हुए भी उससे अलिप्त रहता है।

उक्त श्लोक के भावानुसार मोहनदास करमचन्द गांधी (महात्मा) के एक विश्वसनीय एवं प्रमुख सेनानी आचार्य काका साहब कालेलकर, जो आज हमारे बीच नहीं हैं—उनकी नश्वर देह के स्थान पर उनकी अक्षर देह को इस कृति में आत्मसात करके मैं धन्यता का अनुभव कर रहा हूँ।

इस कृति के लेखन की प्रेरणा और प्रोत्साहन के लिए मैं हिमांशु जोशी, कुसुम शाह, डॉ. रमेश भारद्वाज, नन्दन शर्मा, सुधीर शर्मा, प्रवेश अग्रवाल (मुंबई), श्यामलता, रमेश यादव (मुंबई), प्रकाशक अशोक शर्मा तथा सहृदयी प्रेमीजनों और उनके साहित्यिक बंधुओं का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

पूज्य काका साहब के निर्मल, तपोमय तथा रससिद्ध जीवन से अनेकों को प्रेरणा मिली है। असंख्य जनों का संस्कार-सिंचन हुआ है। उनकी पवित्र स्मृति को शतशः नमन।

—रमेश गुप्त 'मिलन'

पूज्य काका वंदना

शत-शत नमन करूँ काका शत-शत नमन करूँ
श्वेत वस्त्र खादी के तन पर
त्रिगुणातीत उन्नत मस्तक पर
ज्ञान रश्मियों से आलोकित
सत्-साहित्य जगत के दिनकर
शत-शत नमन करूँ...

नमस्कार जब मुख से कहते
अमृत के झरने थे झरते
सत्य अहिंसा के हे साधक
हृदय-पटल पर चित्र उभरते
शत-शत नमन करूँ...

समता, ममता, दया के सागर
सच्ची मानवता के नागर
विद्यापीठ और पावन वर्धा
तुमको पाकर हुए उजागर
शत-शत नमन करूँ...

प्रेम समन्वय के अभिभावक
व्रत एकादश के उन्नायक
ओउम् नमो नारायणाय
पुरुषोत्तमाय के परम उपासक
शत-शत नमन करूँ...

—रमेश गुप्त 'मिलन'
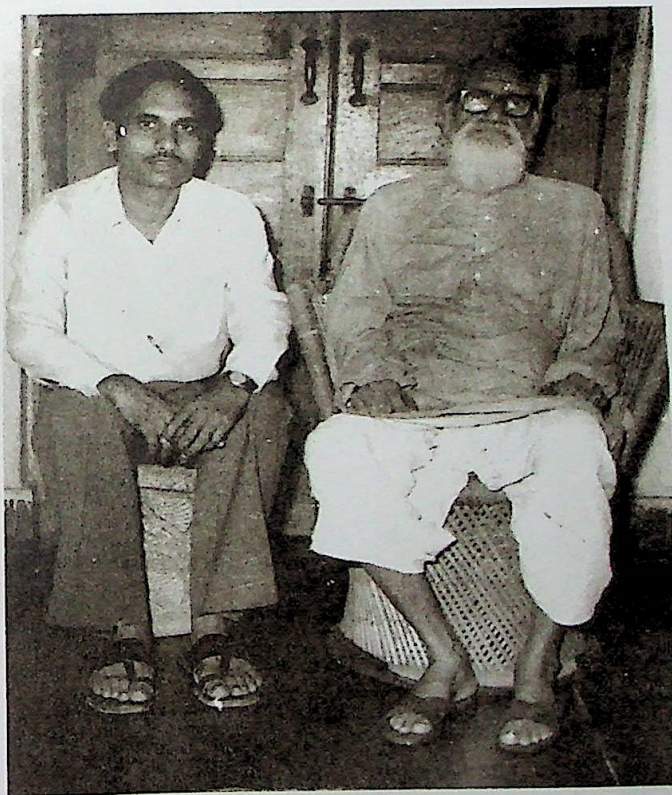
आचार्य काका साहब कालेलकर के साथ लेखक डॉ. रमेश गुप्त 'मिलन'
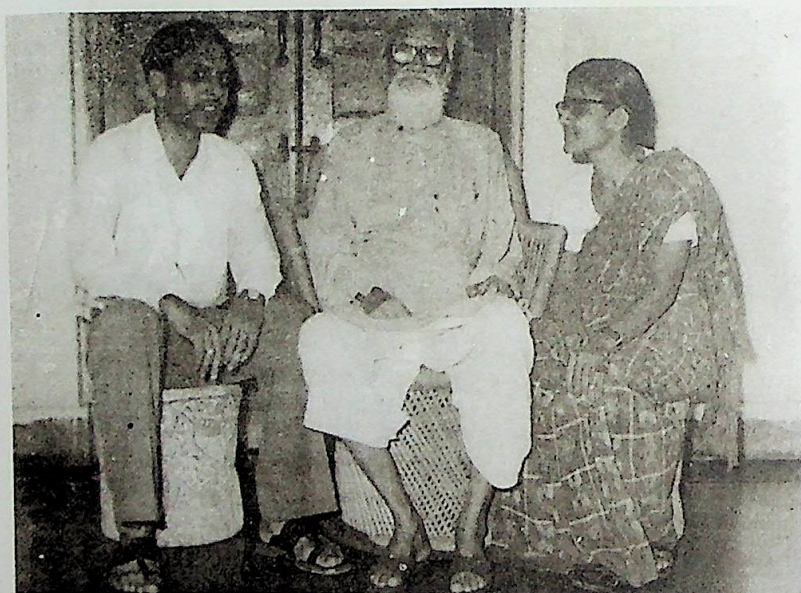
आचार्य काका साहब कालेलकर के साथ लेखक डॉ. रमेश गुप्त 'मिलन'
एवम्
कुसुम शाह

अनुक्रम

1.	जन्म एवं परिवार	23
2.	बचपन और किशोरावस्था	33
3.	शिक्षा तथा क्रांति की तैयारी	49
4.	गंगनाथ विद्यालय : राष्ट्रीय शिक्षण	57
5.	हिमालय की यात्रा	61
6.	लक्ष्य की खोज	64
7.	विवाह एवं जीवनसंगिनी	69
8.	आश्रम और गांधीजी से एकाकार	75
9.	गुजरात विद्यापीठ—जीवन का आधार	79
10.	संपादक और लेखक	86
11.	पहली जेल-यात्रा और क्षय रोग	90
12.	दाँडी-यात्रा : गांधी-काका का जेल-सहजीवन	94
13.	राष्ट्रभाषा हिन्दी के अनन्य सेवक	99
14.	भारत छोड़ो आन्दोलन : भारत स्वतंत्र	111
15.	राष्ट्रभाषा स्वरूप के अन्वेषक : शब्द-शिल्पी	116
16.	चिरप्रवासी : सांस्कृतिक राजदूत	122
17.	साहित्य सर्जक	133
18.	समन्वय के साधक	138
19.	काका साहब : परिवार और समाज	142
20.	सहयोग, दायित्व और सम्मान	147
21.	परम सखा मृत्यु से महामिलन	154

परिशिष्ट-1 : काका के चयनित आलेख 160

परिशिष्ट-2 :

1. काका साहब के जीवन की मुख्य तिथियाँ 215
2. काका साहब के ग्रंथों की सूची 223
3. काका कालेलकर के बारे में लिखे हुए ग्रंथ 231

आचार्य काका कालेलकर

समन्वय के साधक और प्रचारक के
व्यक्तित्व और कृतित्व का बेबाक चित्रण

जीवन-संदेश—एक नजर में

पवित्र भारत भूमि अमूल्य रत्नों की भूमि है। आज तक इसने अनगिनत ऋषियों, संतों, मनीषियों और महापुरुषों को जन्म दिया है। पुरुषोत्तम राम, योगीराज कृष्ण, महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, ईसा मसीह, मोहम्मद, नानक, कबीर, चैतन्य, शंकराचार्य, दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, महात्मा गांधी जैसी अनेक महान आत्माओं का प्रभाव लाखों-करोड़ों लोगों पर पड़ा और विश्व की नैतिकता में वृद्धि हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उसने काका साहब कालेलकर जैसे मनीषी, महान शिक्षाशास्त्री, समन्वय के साधक एवं गांधीवादी विचार के मीमांसक और व्याख्याता को अवतरित करके अपने-आपको धन्य किया। काका साहब ने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गांधी के सिद्धांतों को अपने रचनात्मक कार्यकलापों में अपनाकर उन्हें जीवन का अभिन्न अंग बनाया। काका साहब का कहना था, ''एक ने मुझे सौन्दर्य सिखाया और दूसरे ने सत्य-सत्याग्रह।''

महात्मा गांधी के सर्वधर्म समभाव को काका साहब ने सर्वधर्म ममभाव के रूप में अपनाया। विश्वशांति तथा विश्वमैत्री को जीवनमंत्र बनाकर आजीवन उसका उद्घोष किया।

गांधीजी की छत्रछाया और सहवास काका साहब को भरपूर मिला।

जीवन के उत्तरार्द्ध में उन्होंने सत्य और समन्वय के प्रचार-प्रसार में जीवन समर्पित कर दिया।

गांधीजी ने कहा था, ''यह शरीर इतना तुच्छ होते हुए भी उसकी कीमत बहुत बड़ी है; क्योंकि वह आत्मा का और हम समझ सकें तो सत्यनारायण परमात्मा का निवास-स्थान है।''

काका साहब ने गांधीजी के इस कथन को अपने शरीर और कर्म से पूर्ण रूप से सार्थक कर दिया। काका साहब ने गीता में कृष्ण के इस संदेश को भी भलीभाँति हृदयंगम कर लिया था—"हे अर्जुन! आरंभ से ही इस जगत में दो मार्ग चलते आए हैं : एक में ज्ञान की प्रधानता है, दूसरे में कर्म की। पर तू स्वयं देख ले कि कर्म के बिना मनुष्य अकर्गी नहीं हो सकता, बिना कर्म के ज्ञान आता ही नहीं। सब छोड़कर बैठ जाने वाला मनुष्य सिद्धपुरुष नहीं कहला सकता।"

काका साहब ने स्वयं भी कहा, "मनुष्य भावना के वश में भले ही हो, परंतु उसके उन्माद में न फँसे। भावना के प्रभाव के नीचे अकर्मण्य बनकर मनुष्य लम्बे समय तक पड़ा न रहे। भावना का रूपांतर कार्य में, सेवा में, संकल्प सिद्धि में होना ही चाहिए।"

समन्वय के चिरसाधक, शांतिमूर्ति, ज्ञानयोगी, भारत के तेजस्वी ऋषि काका साहब ने देश को आजाद कराने में स्वतंत्रता सेनानी की सक्रिय भूमिका निभाई तो 15 अगस्त, 1947 को देश के स्वतंत्र होने के बाद स्वयं को देश का शांति सैनिक समझकर दिन-रात उसकी सेवा में समर्पित कर दिया। ब्रह्मलीन होने के बाद काका साहब नभ-मण्डल के सप्तऋषि नक्षत्रों में आठवें ऋषि के रूप में स्थित होकर जग-जीवन को आलोकित कर रहे हैं।

काका साहब कालेलकर का सम्पूर्ण जीवन कर्मयोग और ज्ञानयोग का अमर संदेश है।

1. जन्म एवं परिवार

काका साहब कालेलकर का जन्म 1 दिसम्बर, 1885 कार्तिक कृष्णा 10 मंगलवार को एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में महाराष्ट्र की तत्कालीन राजधानी सतारा में हुआ। काका साहब का पूरा नाम था दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर। पिता श्री बालकृष्ण जीवाजी कालेलकर ने एक साधु के आग्रह पर पुत्र का नाम श्रीगुरु दत्तात्रेय का प्रसाद मानकर 'दत्तात्रेय' रखा।

दत्त और आत्रेय के योग से दत्तात्रेय शब्द बना है। अत्रि ऋषि का पुत्र आत्रेय। 'त्रि' अर्थात् त्रिगुण–सत्व, रज, तम। जो इन तीनों गुणों से परे हो गया है यानी कि त्रिगुणातीत बन गया है, वह है अत्रि ऋषि। काका साहब कालेलकर ने भी त्रिगुणातीत ऋषि बनकर अपना दत्तात्रेय नाम सार्थक कर दिया।

एक बार एक आदरणीय व्यक्ति ने इन्हें दत्तात्रेय नाम का महत्व समझाते हुए निम्नांकित पंक्तियाँ कही थीं–

"आपणासि करि आपण दत्त।
श्रीपती म्हणति पास्तव दत्त।।"

अर्थात् अपने जीवन को समर्पित कर देने से ही 'दत्त' नाम सार्थक होगा। अपना सर्वस्व समर्पित करना, किसी चीज का लोभ न रखना, स्वात्मार्पण करना जैसे आदर्शों को मन और जीवन में अपनाकर ही दत्त नाम की धन्यता होगी। काका साहब ने सर्वस्व समर्पित करके अपने नाम के गुणों के अनुसार अपने जीवन को सार्थक एवं कृतार्थ किया।

बचपन में काका साहब को 'दत्तू' कहकर पुकारते थे। दत्तू दत्तात्रेय का अपभ्रंश है।

नाम के विषय में काका साहब का कथन है, "मुझे लगता है कि

पिताजी बालकृष्ण जीवाजी कालेलकर

प्रत्येक व्यक्ति को अपना नाम स्वयं चुनने का अधिकार होना चाहिए। कई लोगों को खुद पसंद न आने वाला नाम सारी जिंदगी मजबूरन बरदाश्त करना पड़ता है। इस बारे में लड़कियों को कुछ हद तक खुशकिस्मत समझना चाहिए, क्योंकि ब्याह के समय नाम बदले जाते हैं, लेकिन उस वक्त भी उन्हें अपना नया नाम चुनने की आजादी कहाँ होती है?

अगर मुझे अपना नाम चुनने के लिए कहा जाता, तो मैं नहीं कह सकता कि मैं कौन-सा नाम पसंद करता। लेकिन मुझे इतना तो संतोष

है कि मेरा नाम सुदूर आकाश के तटस्थ तारों के हाथ में न रहकर मेरे प्रेमिल माता-पिता के हाथ में रहा और उन्होंने फलित ज्योतिष की शरण में न जाकर एक विरागी भक्त के सुझाव को स्वीकार किया।''

(संस्कृति के परिव्राजक : मेरे जीवन प्रसंग)

यह भी अद्भुत संयोग है कि काका साहब का जन्म 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना के वर्ष 1885 में हुआ।

काका साहब के पूर्वज दक्षिण भारत के सारस्वत ब्राह्मण थे और पश्चिम भारत में आकर बस गए। लेकिन उनका निश्चित इतिहास अज्ञात है। पहले इनका कुलनाम राजाध्यक्ष था। इनके पूर्वज जब गोवा के उत्तर में सावंतवाड़ी राज्य में माणगाँव कस्बे के पास के 'कालेली' नामक गाँव में आकर रहने लगे तो इनका कुलनाम हो गया 'कालेलकर'।

सावंतवाड़ी क्षेत्र में डकैती और आतंक के कारण काका साहब के दादाजी श्री जीवाजी कोंकण प्रदेश छोड़कर बेलगाम की ओर आकर पास के एक गाँव में किसी महाजन के यहाँ नौकरी करने लगे। अपनी बचत को महाजन के पास जमा कराते रहे लेकिन महाजन की मृत्यु के बाद गरीबी के अलावा उन्हें कुछ नहीं मिला।

काका साहब के पिताजी बालकृष्ण जीवाजी कालेलकर बेलगाम में अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त करके सतारा (महाराष्ट्र) में आकर रहने लगे। सतारा में वह कलेक्टर के मुख्य हिसाबनवीस (हेड एकाउन्टेन्ट) नियुक्त हुए। बालकृष्ण जीवाजी कालेलकर अपनी ईमानदारी और मेहनत से अंग्रेजी सरकार के अत्यंत विश्वस्त तथा आदरणीय अफसर बन गए थे। उन्हीं दिनों काका साहब का जन्म हुआ था।

उस समय सतारा महाराष्ट्र के राजाओं की राजधानी थी जबकि पूना पेशवाओं की राजधानी थी। महाराष्ट्र की गादी शाहू महाराज के समय से ही सतारा में थी। काका साहब ने बचपन में सतारा के पेंशनर राजा को कभी-कभी हाथी पर सवार होते और कभी दशहरा के दिन माँ भवानी की पूजा में बलिदान के तौर पर बड़े महीश का शिरच्छेद करते देखा था।

श्री बालकृष्ण जीवाजी की बाद में एक महत्वपूर्ण पद पर नियुक्ति हुई। देशी राज्यों के नाबालिग शासकों की देखभाल अंग्रेजी सरकार करती थी। व्यवस्था सुचारु ढंग से चल रही है, इसकी जाँच करने के लिए उन्हें

सावंतवाड़ी, जत, रामदुर्ग, मिरज, मुधोल, सावनूर इत्यादि देशी राज्यों की राजधानियों में भेजा जाता था। काका साहब के आग्रह पर पिताजी उन्हें भी देशी राज्यों की राजधानियों में साथ ले जाते, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें विद्यार्थी जीवन में ही देशी राज्यों की व्यवस्था, प्रजा की भावना, अंग्रेजों की नीति समझने और अनुभव करने का अवसर प्राप्त हुआ तथा भ्रमण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हुई।

बालक दत्तू

बालकृष्ण जीवाजी कालेलकर धार्मिक प्रवृत्ति के, कर्तव्यनिष्ठ तथा ईमानदार व्यक्ति थे। इनका ब्राह्मण परिवार शुद्ध शाकाहारी था। अंग्रेजी

ज्ञान तथा अच्छी नौकरी होने के कारण जाति और समाज में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। उनकी जाति के अधिकांश लोग या तो साहूकारी या व्यापार करते थे। पिताश्री के धार्मिक संस्कारों का प्रभाव काका साहब पर भी पड़ा। बचपन में ही संस्कृत के श्लोक कंठस्थ हो गए तथा धार्मिक पूजा-पाठ में प्रवृत्ति हुई। छुटपन में ही रूढ़िनिष्ठ धार्मिक परम्परा के उत्तम संस्कारों से विभूषित हो गए। ईश्वर के प्रति पिता की भक्ति, मंदिर में नैवेद्य, संगीत, नृत्य, कथा-कीर्तन आदि देखकर उनकी धार्मिक भावनाओं की तुष्टि तो हुई लेकिन पूजा-पाठ के बारे में गंभीर भाव अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सका। क्योंकि उन्होंने देशी राज्यों के दरबारों में कला की विलासिता और खुशामद देखी थी। उन्हीं के शब्दों में, ''देव भी तो विलासी राजाओं के जैसे रहते हैं और देवियों के साथ मौज करते हैं। ये सब मुझे चुभने लगा।''

माताजी राधाबाई कालेलकर

काका साहब की माताजी राधाबाई भिसे परिवार से थीं। वे धर्मपरायण, सहज, सरल और परिवार के प्रति पूर्ण समर्पित महिला थीं। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति और उच्च संस्कारों की छाप बालक दत्तू के मन-मस्तिष्क पर स्थायी रूप से पड़ी। माँ ने कुटुम्ब-धर्म भी इन्हें सिखाया। पिता के प्रति पुत्र-धर्म की शिक्षा भी भलीभाँति समझाई।

काका साहब छह भाई थे जिनमें काका सबसे छोटे थे। एक बहन भागीरथी थी जो तीसरे क्रम पर थी। काका साहब बहन को 'आक्का' कहकर बुलाते थे।

भाइयों के नाम हैं—मंगेश (बाबा), रघुनाथ (अण्णा), विष्णु, केशू (भाऊ), गोंदू (नाना) और दत्तू दत्तात्रेय (काका साहब)।

पाँच भाइयों के साथ बालक दत्तू

काका साहब के भाइयों में से केवल एक भाई की शिक्षा ही बी. ए. तक हो पाई थी। बाकी भाइयों की शिक्षा बीच में ही समाप्त हो गई। अंग्रेजी शिक्षा पर भारी खर्च करने के बाद भी उनकी शिक्षा पूरी नहीं हो सकी। पुत्रों की शिक्षा की असफलता से पिता बालकृष्ण जीवाजी को भी बहुत निराशा हुई।

सबसे बड़े भाई मंगेश संस्कृत के विशेष प्रेमी थे। चर्चा करने में बड़ा रस लेते थे। दूसरे भाई रघुनाथ (अण्णा) वेदांत का बहुत वाचन करते थे और परिवार में भी वेदांत का महत्व स्थापित किया। उन्होंने बी. ए. तक शिक्षा प्राप्त करके नौकरी की। लेकिन स्वार्थ बुद्धि के कारण अपने पिताश्री और घर से अलग हो गए। चौथे भाई केशू का स्वभाव उग्र था। वह काका को प्यार भी करता और चिढ़ जाने पर मार भी लगाता था। काका साहब से बड़ा भाई गोविन्द (गोंदू) बचपन में प्रायः बीमार रहने के कारण माँ के पास सोता था।

काका साहब पिताजी के बिस्तर में उनकी तरफ पीठ करके सोते थे। सबसे छोटे होने के कारण माता-पिता दोनों का उन्हें खूब स्नेह प्राप्त हुआ। पिताजी का सहवास भी उन्हें सबसे अधिक मिला।

काका साहब की बहन (आक्का) भागीरथी की शादी हो चुकी थी। घर में वह सबकी चहेती थी। उसका घर (मायके) आना-जाना लगा रहता था। परिवार में अकेली लड़की होने के कारण सब उसको बहुत प्रेम करते थे। स्वयं भागीरथी (आक्का) का व्यवहार भी बहुत अच्छा था। वह बहुत ही शांत प्रकृति और उत्तम संस्कारों वाली थी।

एक दिन भागीरथी अपनी ससुराल से सतारा में आकर घर के सामने गाड़ी से उतरी तो दत्तू (काका साहब) ने दौड़कर माँ को सूचना दी कि कोई महिला हमारे घर पर आई है। लेकिन इतने में वह महिला तो घर में प्रवेश करके सारे घर में घूमने लगी। काका साहब को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ लेकिन बाद में उन्हें पता चला कि यह तो उनकी अपनी बहन है जो ससुराल में रहकर मायके आई है। भागीरथी ने अपने छोटे भाई दत्तू को पाँच-छह रंगीन काँच की गोलियाँ दीं लेकिन खुशी से ज्यादा तो दत्तू को गोलियाँ देखकर अचरज हुआ, क्योंकि बाबा (बड़े भाई) तो गोलियों के खेल को गंदा समझते थे, इसलिए गोलियों को छूने भी नहीं देते थे।
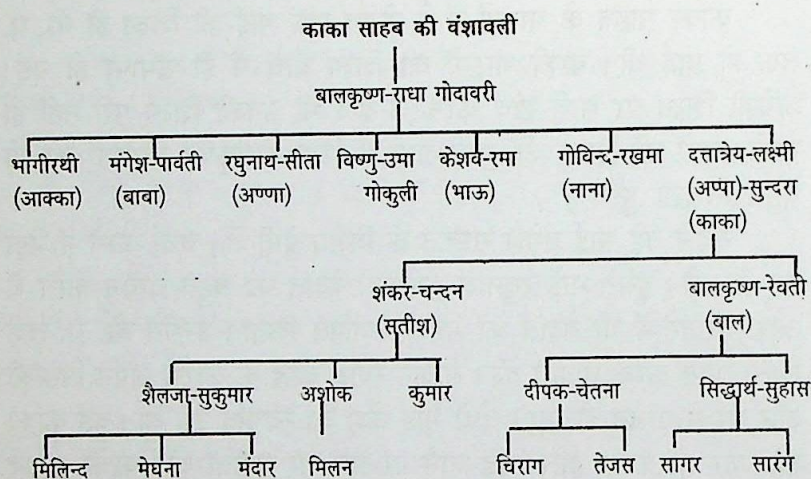
काका बाल वर्ग में थे और भागीरथी बड़े स्नेह से उन्हें पढ़ाती थीं। अपनी आई (माँ) और काका के सामने रोजाना शाम को 'राम-विजय' पढ़तीं और सुनातीं।

एक दिन भागीरथी ने माँ से कहा, "घर में जो तोता रखा है उसे हम छोड़ दें, उड़ा दें।" दत्तू ने लाड़ले तोते को उड़ाने का कारण पूछा तो बहन ने सुस्वर और दर्द भरे कंठ से नल-दमयंती का आख्यान गाया जिसमें राजा के हाथ में फँसा हुआ हंस छूटने के लिए तड़पता है और छूटने के लिए राजा को अनेक प्रकार से गिड़गिड़ाकर विनती करता है। लेकिन राजा के न छोड़ने पर वह निराश हंस बहुत विलाप करता है। इस प्रसंग को कहते-कहते आक्का रो पड़ीं। किसी तरह आँसू रोककर प्रत्येक पंक्ति का अर्थ समझाया। सुनकर सब गद्गद् हो गए और निश्चित हुआ कि तोते को छोड़ दिया जाए।

शरीफे के पेड़ से लटके हुए पिंजरे का दरवाजा खोला गया तो थोड़ी-सी हिचकिचाहट के बाद तोता आकाश में उड़ गया। आक्का (भागीरथी) की आँख में आनंद के आँसू भर गए।

शाहपुर में भिसे का घर काका साहब की ननिहाल। वहाँ वे रहने गए तो उनकी मामी उन्हें 'पेज' (दही और नमक डालकर पकाया हुआ गरम चावल) तैयार करके सबको पंक्ति में बिठाकर खिलातीं।

आक्का बीमार चल रही थीं। थोड़े दिनों में तेज बुखार आने लगा

जो 'टाइफाइड' था। एक दिन सुबह सब बच्चों को पड़ोसी के यहाँ खाने का निमंत्रण मिलने का बहाना करके भेज दिया गया तथा वहीं रुकने के प्रयत्न किए गए। काका साहब सबसे छोटे होने के कारण जब घर जाने की बात करते तो बड़े भाई गाना, कहानी सुनाकर शाम तक रोके रहे। परेशान दत्तू रोने लगे। साथ ही समझ में भी आया कि पड़ोसी के घर रोके रहने में कोई भेद है। बाद में एक नाटक खेलकर समय बिताया गया।

पड़ोस के एक लड़के ने दत्तू को आकर बताया कि उसके पिताजी जोर-जोर से रो रहे हैं। नौ बजे बच्चों को घर ले जाया गया तो वहाँ चारों ओर शोक की शांति थी। कोई किसी से बात नहीं कर रहा था। श्मशान से वापिस आए हुए लोग गरम पानी से नहा रहे थे। घर में कोई चहल-पहल नहीं थी। एक कोने में चावल की आधी बोरी पर दत्तू के पिताश्री खेस ओढ़कर बैठे हुए काँप रहे थे। दत्तू को गोदी में लेकर दुखी आवाज से कहने लगे, "दत्तू, हमारी भागु (भागीरथी) हमें छोड़कर दूर चली गई।" काका साहब ने लिखा है, "मैं कुछ समझूँ नहीं कि हुआ क्या है? दूर अर्थात् कहाँ तक? क्यों? पिताश्री इतने दुखी क्यों हैं? घर में क्यों कोई किसी से बोलता नहीं? पिताश्री बार-बार एक ही बात करते हैं—हमारी भागु हमें छोड़कर दूर गई है।"

दत्तू को अंदर जाने पर पता चला कि आई (माँ) भी पैर से सिर तक चादर ओढ़कर सोई है। तब दत्तू को यह नहीं समझ थी कि वह सोई नहीं बल्कि बेटी की मृत्यु के शोक से बेहोश हो गई है।

इस प्रकार दत्तू की इकलौती बहन ने छोटी-सी उम्र में ही उनसे विदा ले ली। अपनी बड़ी बहन (आक्का) के सुंदर संस्मरणों को काका साहब ने अपने जीवन प्रसंगों में भावपूर्ण शब्दों में सँजोया है।

माता-पिता के प्रति दत्तू की अपार श्रद्धा थी। बड़े भाइयों के लिए भी उनकी भक्ति और आज्ञाकारिता में कोई कमी नहीं हुई, यद्यपि उनका अत्यधिक तिरस्कार दत्तू को सहना पड़ा। भाइयों के प्रति माँ (आई) के आदेश का दत्तू ने अक्षरशः पालन किया क्योंकि माँ हमेशा शिक्षा दिया करती थी कि जिस तरह लक्ष्मण ने राम की सेवा की थी, उसी तरह उसे भी बड़े भाइयों के कहने में रहना चाहिए। लेकिन मन के किसी कोने में असंतोष-रोष अवश्य ही बना रहा। काका साहब के शब्दों में, "लक्ष्मण के

तो एक ही बड़े भाई थे। मेरे हिस्से में पाँच थे और वे सब राम नहीं थे। वे मेरी लक्ष्मण-वृत्ति का खूब लाभ उठाते थे और फिर मुझसे झगड़ते और मारते थे सो अलग।...

मैं अपना धर्म समझता था कि वे मुझे मारें और डाँटें-फटकारें पर तो भी उनके प्रति मेरे प्रेम में कोई कमी नहीं आनी चाहिए और मैंने अपने इस धर्म को बहुत हद तक निभाया।''

(बढ़ते कदम, समन्वय के साधक)

काका साहब का बाल्यकाल सतारा में और बेलगाम की तरफ सांगली राज्य के शाहपुर—इन दो शहरों में बीता। पिताश्री के धार्मिक संस्कारों, संत-साहित्य का अध्ययन तथा पंढरपुर, गोकर्ण जैसे महत्व के तीर्थों में जाने से काका साहब की धार्मिकता में अच्छी वृद्धि हुई। धर्मनिष्ठा के लाभ भी काका साहब को अपने जीवन में भरपूर मिले।

पितृभक्ति और ज्येष्ठ बन्धुभक्ति तो दत्तू ने अपनी माँ से सीखी परंतु मातृभक्ति तो उसे किसी ने सिखाई ही नहीं।

माता की सेवा करते हुए दत्तू को अत्यधिक आनंद मिलता था। माँ के सुख-दुख की बातें सुनकर वह मोम की तरह पिघल जाता और उसके हृदय की व्याकुलता बढ़ जाती। नौकरी के लिए पिताश्री को नए स्थान पर जाना पड़ता तो माता-पिता के साथ अकेले दत्तू को ही जाना पड़ता। तब माँ की सेवा दत्तू ही करता था। माँ को स्नान करने में मदद करता और बाल भी बना देता। माँ कई बार कहतीं, ''दत्तू, तू मेरा बेटा नहीं, बेटी ही है।''

पुत्र का मुख्य धर्म है माँ-बाप की सेवा, बचपन में यह बात दत्तू को अच्छी तरह समझ आ गई थी। इसलिए दोनों की सेवा करने में बालक दत्तू को अखंड आनंद और धन्यता का अनुभव होता था। माता-पिता का प्रचुर प्रेम भी दत्तू को भरपूर मिलता रहा।

2. बचपन और किशोरावस्था

कहावत है कि माता-पिता का जो सबसे छोटा बेटा होता है, वह जल्दी से बड़ा नहीं होता। जिम्मेदारी समझने में उसकी उम्र का बड़ा भाग बीत जाता है। परिवार और समाज के व्यंग्य और तानों से जब तक उसे होश आता है तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। बचपन में ऐसी ही दशा दत्तू (काका साहब) की थी।

अपने हाथ से भोजन खाना आना चाहिए, इसका जरा भी विचार दत्तू के मन में नहीं था। भोजन आई (माँ), आक्का (बहन) या भाभी ही खिलाती थीं। अपनी आलोचना सुनकर उसे बुरा तो लगता लेकिन अपनी आदत में सुधार करके स्वयं अपने हाथ से खाना खाने की सूझती ही नहीं थी। बाबा (भाई) चिढ़कर बोलते, "इतना बड़ा घोड़े जैसा हुआ है, और फिर अपने हाथ से खाता भी नहीं।" लेकिन ढाक के वही तीन पात, दत्तू पर कोई असर नहीं।

एक दिन खेल-कूदकर दत्तू सो गया तो घर के लोगों ने एक शरारत की। सोते हुए दत्तू को उठाकर रसोई में ले गए और सामने एक थाली रख दी। चीमी दत्तू की भतीजी थी जो उससे डेढ़ साल छोटी थी। भाई विष्णु ने चीमी को बुलाकर थाली में दाल-भात तैयार कराया और दत्तू को खिलाने को कहा। चीमी ने एक कौर दत्तू के मुँह के सामने दिखाया तो दत्तू ने मुँह खोलकर कौर खा लिया। इस पर सब हँसने लगे और कहने लगे, "भतीजी चाचा को खिलाती है, फिर भी उसे शर्म नहीं आती।" तब दत्तू को पता चला कि उसकी दुर्गति हो रही है। उसे बहुत शर्म आई और दूसरा कौर लेने से मना किया। साथ ही आगे से अपने हाथ से भोजन करने का निश्चय किया।

अब समस्या थी कि भोजन कौन-से हाथ से किया जाए? सामने बैठे भोजन करने वाले को देखकर भोजन के लिए थाली में हाथ डाला, वह भी बायाँ। दर्पण जैसी स्थिति हुई। विष्णु भाई ने इस पर फिर से ठिठोली की, ''देखो तो सही, इस घोड़े को दायाँ हाथ कौन-सा और बायाँ कौन-सा यह भी समझ नहीं आता।'' दो-तीन बार भूल करने के बाद पिताश्री से दायाँ हाथ कौन-सा है, जानकर ही दत्तू उसी से खाना खाता। दाएँ हाथ के विषय में एक दिन दत्तू की खोज सफल हुई। काका साहब ने स्वयं लिखा है कि, ''मेरे दाएँ कान में दो मोतियों की एक बाली थी। मुझे मिल गया कि जिस ओर के कान में बाली है, वही दायाँ है, उस ओर के हाथ से भोजन किया जाए। फिर तो रोज भोजन से पहले दोनों हाथ कानों से लगाकर देखता और जिस कान पर मोती हाथ में आए उस ओर के हाथ से खाना शुरू करता। दायाँ हाथ खोजने की इस युक्ति का किसी को पता न चला, क्योंकि मैं बहुत चालाकी से यह काम निबटा लेता।''

× × ×

दाएँ हाथ और बाएँ हाथ जैसी स्थिति बालक दत्तू के साथ दाएँ पैर और बाएँ पैर की भी रही। बचपन में दत्तू को नसीब से विदेशी जूते पहनने का अवसर मिला, लेकिन बदकिस्मती से जूतों की भी दाएँ और बाएँ नाम की दो जातियाँ निकलीं। अब तो पिताश्री से ही रोज सुबह पूछना पड़ता कि दायाँ कौन-सा और बायाँ कौन-सा ? पिताश्री ने कई दिन तक पैर और जूते के आकार को समझाने का प्रयत्न किया लेकिन दिमाग में कुछ घुसता ही नहीं था। बहुत प्रयत्न करने पर भी दत्तू सही पैर का सही जूता पहनने की कला नहीं सीख पाया। अब इसमें न तो पिताश्री के समझाने की शक्ति में कोई कमी थी और न ही दत्तू की अक्ल मोटी थी। कहते हैं कि कुछ दिन बाद कठिन से कठिन समस्या के समाधान का कोई न कोई रास्ता निकल ही आता है। सो वही हुआ भी। थोड़े ही दिनों में जूते पहनकर उनका आकार ऐसा बना दिया कि पिताश्री भी पहचान न सके कि कौन-सा दायाँ और कौन-सा बायाँ।

× × ×

दत्तू के छुटपन की बाल-सुलभ दिन-प्रतिदिन की प्रक्रिया थी कि माँ नौकरानी के साथ अथवा कभी अकेले हाथ की चक्की पर आटा पीसती

और दत्तू माँ की गोद में सिर रख जमीन पर टाँगें फैलाकर माँ के गीत सुनाता रहता था। माँ के हिलने-डुलने से दत्तू का सिर भी हिले तो हिले, फिर भी एक अद्‌भुत आनंद। पीसने की गति के साथ गीतों का संगीत एक हो जाता। कवि सूरदास द्वारा वर्णित कृष्ण की बाललीलाओं जैसा आनंददायी चित्रण। बचपन का यह स्वर्गिक आनंद जीवन में लौटकर फिर नहीं आता, जिसे पाने के लिए हर मन तरसता है।

× × ×

दत्तू के सतारा के घर के पीछे शरीफे का एक पेड़ था। मौसम आने पर जब उस पेड़ पर फल आने लगे तो बच्चे लोग रोज वहाँ जाकर फलों को देखते। जब बच्चे फल तोड़ने के लिए तैयार हुए तो दत्तू की दादी ने यह कहकर उन्हें रोक दिया, "ये फल अभी अंधे हैं। उन्हें मत तोड़ो। उनकी आँखें जरा बड़ी होने दो। आँखें खुलें तब फल पकते हैं।" इस पर एक दिन गोंदू ने कहा, "हमारी आँखें अच्छी नहीं हैं। वे हिलती हैं। उन्हें निकालकर उनके स्थान पर शरीफे की आँखें बिठानी चाहिए।" एक दिन शरीफा खाते हुए उनका एक बीज दत्तू के पेट में चला गया तो दत्तू परेशान और हैरान। भाई विष्णु को अच्छा अवसर मिल गया और दुखभरी आवाज में दत्तू को डराते हुए कहा, "अरे रे! तुमने यह क्या गजब किया? अब तेरी टूँडी में पेड़ उगेगा।" केशू भाई ने इसके साथ ही यह भी जोड़ दिया कि, "हम पेड़ पर चढ़कर शरीफा खाएँगे और जैसे-जैसे हम फल तोड़ेंगे वैसे तुम्हारे पेट में ऐसी वेदना होगी कि बात मत पूछो। हम खाएँगे और तू रोएगा।"

यह सुनकर दत्तू तो रुआँसा हो गया और बालसुलभ भावनावश उसे विश्वास हो गया कि पेट में शरीफे का पेड़ उगेगा और कभी भी केशू उसके फल तोड़कर खाएगा। दत्तू ने एक चित्र देखा था जिसमें साँप के बिछौने पर सोते हुए विष्णु की टूँडी से कमल का पेड़ उगा है। दत्तू ने सच्चाई जानने के लिए दादी से पूछा कि क्या कमल के बीज होते हैं? आजी (दादी) का उत्तर था, "हाँ क्यों नहीं। उसे कमलगट्टा कहते हैं, उपवास के दिन उसका हलवा बनाकर खाया जाता है।" अब तो दत्तू की चिंता और बढ़ गई। वह कई दिन तक सुबह उठकर अपना पेट देखता कि शरीफे का अंकुर कहीं उगा तो नहीं है।

× × ×

बेलगुंदी काका साहब का असली गाँव। शाहपुर से लगभग आठ मील दूर दो सुंदर छोटी पहाड़ियों के नीचे एक ओर फैला हुआ। एक बार बेलगुंदी देखने गए और मामा के घर पर प्रवास किया। पहले ही दिन मामा के साथ गाँव के एक सज्जन जोशी के घर गए तो दत्तू ने जाते ही शरारत शुरू कर दी। जोशीजी की झोंपड़ी की नीची छाजन की बल्ली से लटककर झूला झूलना शुरू कर दिया। झोंपड़ी का कमजोर छाजन दत्तू की शरारत की शिकायत करड़ड़-करड़ड़ की आवाज करके करने लगा तो सब लोग दत्तू से चिढ़ गए। वहाँ से भगाने के लिए छोटी मामी ने अपनी छोटी-सी बेटी येसु को दत्तू के साथ भेज दिया और हिदायत दी कि वह उसे सँभालकर घर ले जाए।

दत्तू बहन को लेकर चल दिया लेकिन यह याद न रहा कि मामा का घर कितनी दूर है। बहन का हाथ पकड़कर चलता ही रहा, चलता ही रहा, यहाँ तक कि गाँव का सीमांत आ गया, हरिजन-वास आ गया। दो छोटे बच्चों को भटकते जानकर एक मेहतरानी बुढ़िया से रहा नहीं गया और पास जाकर पूछा, "बाळ तुं कोणा चा?" (बेटा, तुम किसके बेटे हो?) अब इतना तो बच्चा होने के कारण दत्तू को ध्यान नहीं आया कि बुढ़िया रास्ता भूलने और उसका पता जानने के लिए पूछ रही है। दत्तू ने तुरंत उत्तर दिया, "मी आई चा।" (मैं मेरी माँ का) इस भोलेपन के उत्तर से रास्ते के सब लोग हँसने लगे।

इसके बाद बुढ़िया ने येसु की ओर घूमकर पूछा, "और बेटी तू किसकी?" अब बहन भाई से बेवफाई थोड़े ही करती। उसने भी तुरंत उत्तर दिया, "मी नाना ची।" (वह अपने पिता को नाना कहती थी)

दत्तू और येसु के उत्तरों से असंतुष्ट तथा उनकी सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए बुढ़िया गह कहकर उनको साथ में लेकर घर पहुँचाने के लिए चल दी कि यह तुम्हारा रास्ता नहीं है। रास्ते में पूछताछ करती हुई बुढ़िया दत्तू के मामा के घर तक पहुँच ही गई। उनकी सारी कहानी विस्तार से बताई तो सब हँस पड़े। फिर तो दत्तू जहाँ जाता सब देख-देखकर दत्तू के बुद्धूपन का मजाक उड़ाते कहते, "मी आई चा।"

× × ×

दत्तू और उसके भाई सतारा से अपने मामा के यहाँ शाहपुर गए हुए

थे। दत्तू के मामा के बड़े बेटे का नाम रामा था। रामा ने कहीं से एक गिलहरी (चान्नी) का बच्चा पकड़ लिया था जिसे वह हमेशा अपने पास ही रखता था। शाहपुर क्षेत्र में गिलहरी को 'चान्नी' कहते हैं। रामा प्रसन्नता के साथ सबको अपनी चान्नी दिखाकर खुश होता था। अगर हाथ से वह छूट जाती तो आसानी से वह उसे पकड़ भी लेता था।

इसी बात को सिद्ध करने के लिए एक दिन वह दत्तू सहित सात-आठ बच्चों को घर के पीछे के आँगन में ले गया। सब बच्चों को पीछे हटाकर मदारी की तरह चारों तरफ खुला मैदान कर लिया और चान्नी का बच्चा धीरे से जमीन पर रख दिया। दो दिन की शरारतों से तंग बेचारा बच्चा सुन्न हो गया था। जमीन पर रखने के बाद भी उसने कुछ उछल-कूद नहीं की, क्योंकि उसे यह विश्वास भी नहीं हुआ था कि उसे आजादी मिल गई है। बहुत दिनों से कारागार में बंद कैदी को अचानक मुक्त कर देने पर उसकी भी यही स्थिति होती है। बेचारा बच्चा बच्चों के बीच में पड़ा इधर-उधर देख रहा था। गोल घेरे में खड़े बच्चे बड़ी उत्सुकता से चान्नी के उस बच्चे को निहार रहे थे कि देखें अब यह किस दिशा की ओर दौड़ता है?

इतने में ही रेशम के नए कपड़े की आवाज जैसा स्वर बच्चों के कानों में सुनाई दिया और झ...प करके एक चील बड़ी तेजी के साथ बच्चों के घेरे के बीच में से चान्नी को उठाकर ले गई। यह सब इतना अचानक हुआ कि कोई उसे छुड़ाने के लिए आगे बढ़ता, उससे पहले ही चील आकाश में उसे लेकर उड़ गई।

चान्नी का बच्चा एक ही बार बहुत भयानक ढंग से चीखा और यह चीख दत्तू के कानों में होती हुई सीधे छाती को बेध गई। चील उड़ते-उड़ते चोंच और नाखूनों से उस असहाय बच्चे को बार-बार अधिक जोर से पकड़ने की कोशिश करती थी। बच्चे अपराधी से खड़े अरेरेरे...कहें, तभी चील एक नारियल के पेड़ पर जाकर बैठ गई तथा सब बच्चों के देखते-देखते चान्नी के उस प्यारे-से बच्चे को उसने अपने पेट के हवाले कर दिया।

एक पल में ही सब-कुछ बदल गया था। अभी-अभी तो सब उस बच्चे को प्यार कर रहे थे और कुछ पल बाद ही वह अब कहीं नहीं था। जीवन का सच भी यही है।

दत्तू यह सोचकर बहुत दुखी हुआ कि अंतिम क्षण में बच्चे का क्या

हुआ होगा? चील ने उसका पेट चीरा, उसे कितना दर्द हुआ होगा। दत्तू को लगा कि जैसे उसका पेट ही चीरा गया होगा।

× × ×

दत्तू ने पहली साइकिल डॉक्टर पुरुषोत्तम शिवगाँवकर की देखी थी। सारे गाँव में दूसरी साइकिल थी भी नहीं। चारों तरफ उस साइकिल की ही बातें होतीं और लोग डॉक्टर की साइकिल को आँख फाड़-फाड़कर देखते थे। एक कहता कि "जितनी देर में पान खाओ, उतनी देर में तो पैरगाड़ी बेलगाम तक पहुँच जाती है।" (उन दिनों साइकिल को पैरगाड़ी ही कहते थे, साइकिल शब्द प्रचलित नहीं था) दूसरा कहता, "लेकिन यह गिरती क्यों नहीं?" तीसरा अपने को बुद्धिमान समझते हुए उत्तर देता कि "जिस प्रकार रस्सी पर चलने वाला नट हाथ में बाँस रखता है, उसी प्रकार पैरगाड़ी वाला दोनों हाथों में चमकता हुआ लम्बा हाथा पकड़े रहता है, इसलिए वह गिरती नहीं है।" एक बार एक बूढ़े आदमी ने साहस करके डॉक्टर से पूछ ही लिया कि "आप गिर क्यों नहीं जाते?" डॉक्टर ने भी उस बूढ़े से मजेदार प्रश्न कर दिया, "साढ़े तीन हाथ ऊँचे आप खड़े-खड़े चलते हैं, तो आप क्यों नहीं गिर जाते?" इस पर पास खड़े सब लोग हँस पड़े और बेचारा बूढ़ा बहुत शर्मिंदा हो गया।

उस समय दत्तू बहुत छोटा था और पाठशाला भी नहीं जाता था, लेकिन उस दिन से अपनी पैरगाड़ी होने की तीव्र इच्छा मन में पैदा हो गई। लेकिन यह सोचकर कि साइकिल जैसी कीमती और दुर्लभ चीज अपने घर में कब आने वाली है—इच्छा मन में ही दबकर रह जाती थी। किंतु साइकिल का ध्यान हमेशा ही बना रहा। दत्तू सोचता कि तीन-चार सौ रुपये की साइकिल कौन खरीदकर देने वाला है? इसका एक ही उपाय उसके बाल-सुलभ मन ने सोचा कि शादी के समय हम रूठकर बैठेंगे। अपने ससुरजी से कहेंगे कि 'मुझे नहीं चाहिए गले का हार, कि नहीं चाहिए पहुँची, हमें तो अच्छी साइकिल चाहिए।'

साइकिल के विचार ने दत्तू को अपनी चपेट में ले लिया था। दत्तू को यह विश्वास भी हो गया था कि शादी करना खराब बात है और जब शादी की बात आई तो घर से भाग भी गया था। शादी करना खराब अतः घर से डरकर भागना जैसे विचारों की आँधी दत्तू के मन-मस्तिष्क में चलती

रहती थी। लेकिन साइकिल दत्तू का पीछा नहीं छोड़ रही थी। बुद्धि को भरमाए जा रही थी।
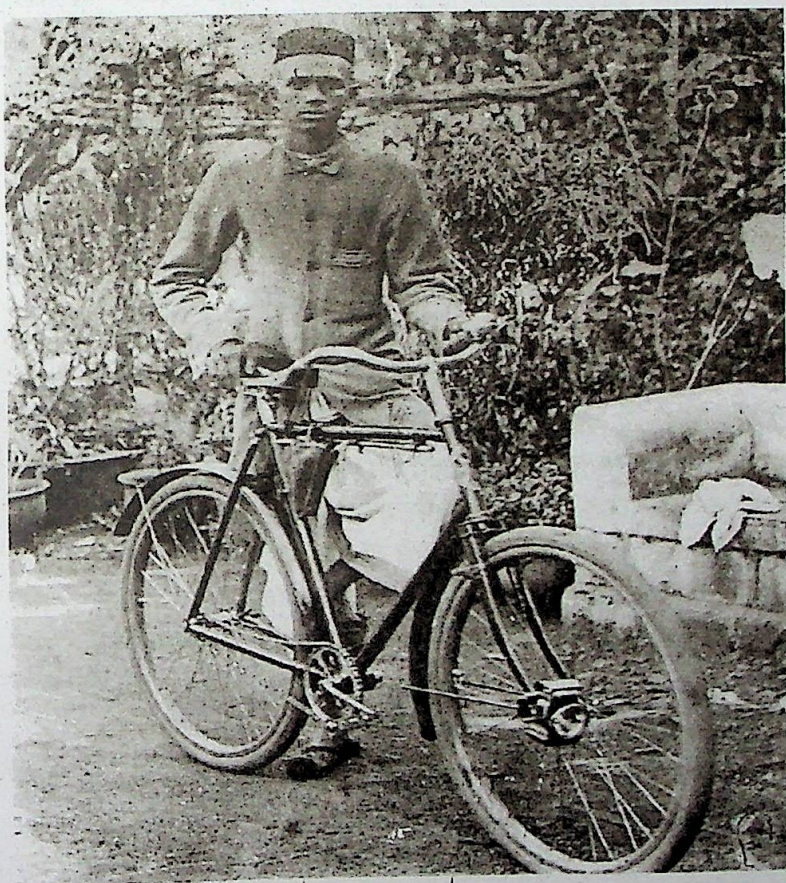
अपनी साइकिल के साथ दत्तू

कल्पना ने करवट बदली कि साइकिल तुरंत प्राप्त करने का तो एक ही उपाय है कि शादी कर ली जाए। इस प्रकार साइकिल के लोभ ने दत्तू के मन को शादी करने के लिए तैयार कर ही लिया। फिर तो कल्पना की साइकिल दौड़ने लगी। शादी के विचार और साइकिल ने खूब रंग जमाया और सोचा कि सारी बारात ही साइकिल पर निकालें तो कितना अच्छा हो? काका साहब ने अपने बचपन की मजेदार कल्पना को व्यक्त करते

हुए लिखा है, ''दूल्हा-दुल्हन तो साइकिल पर हों ही; लेकिन सब बाराती, अरे शहनाई और बाजे बजाने वाले, आतिशबाजी छुड़ाने वाले, पंडे, भट, भिक्षुक सभी साइकिल पर बैठकर शहर में घूमें तो कितना अच्छा दिखाई दे? प्रत्येक व्यक्ति जो साइकिल की घण्टी और भोंपू बजाए, उसमें सरगम की व्यवस्था हो। लेकिन ऐसी बारात तो जल्दी ही चली जाएगी, लोगों को पूरा देखने को नहीं मिलेगा; इसलिए सारे शहर में उसे तो दस बार परिक्रमा करनी चाहिए और जिन्हें यह मजा देखने का खास शौक हो, उन्हें भी किराए की साइकिल लाकर बारात के साथ घूमना चाहिए।'' ऐसी मजेदार कल्पनाएँ बालक दत्तू के मन में बढ़ती गईं।

इस अद्भुत कल्पना को दत्तू ने भाई गोंदू के साथ बाँट लिया। फिर क्या था, उसने (गोंदू ने) उसी दिन हँसते-हँसते घर में कह दिया और बात घर से बाहर भी फैल गई। बात निकली है तो दूर तलक जाएगी, वाली कहावत पूरी तरह चरितार्थ हो रही थी। अब तो हरेक व्यक्ति दत्तू को साइकिल की बारात की बात पूछ-पूछकर चिढ़ाने और परेशान करने लगा।

दत्तू के बड़े होने पर जब सचमुच ही शादी हुई तो साइकिल की बारात वाली बचपन की बात उसे याद थी लेकिन शादी के समय भगवान् से यही प्रार्थना करता रहा कि शादी सम्पन्न होने तक किसी को इस बात का स्मरण ही न आए। शादी के समय जब रूठने का समय आया तो मन में प्रबल इच्छा होने पर भी काका साहब ने साइकिल का नाम नहीं लिया।

एक दिन घर में साइकिल आई। साइकिल पर बैठकर दत्तू ने भाई से तस्वीर (फोटो) खींचने के लिए कहा तो भाई ने मजाक करते हुए कहा, ''लेकिन तस्वीर के नीचे लिखूँगा कि साइकिल पर बारात।'' यह सुनकर काका साहब ने भाई के सामने गिड़गिड़ाकर किसी तरह मुक्ति पाई।

× × ×

पचरंगी तोते का प्रसंग भी बड़ा मजेदार है। कौन समझदार है, कौन गुनहगार है, बस यह समझ लीजिए कि एक चक्रव्यूह का विस्तार है। एक बार बालकृष्ण जीवाजी कालेलकर (काका साहब के पिताश्री) केशू (काका साहब के भाई) को साथ लेकर गोवा गए थे। उन दिनों गोवा पर पुर्तगालियों का राज था (अब गोवा भारत संघ का एक राज्य है)। गोवा से लौटते समय केशू ने एक पचरंगी तोता देखा तो उसे लेने के लिए मन ललचा

गया। उसे लेने के लिए पिताश्री से जिद ठान ली। बालकृष्ण कालेलकर घर में अब तोता नहीं लाना चाहते थे, क्योंकि एक बार घर में पाले हुए तोते को आक्का (काका साहब की बड़ी बहन) ने आजाद करा दिया था। बालहठ के सामने पिताश्री को झुकना पड़ा। यद्यपि बंदी तोते को गोवा की सीमा से बाहर लाने की भारी फीस चुकानी पड़ी तथा बाद में रेल में भी उसका आदमी के बराबर का किराया भरना पड़ा।

तोते के घर में आने के बाद केशू सारा दिन उसके साथ खेलता, उसकी बातें सुनता और पूरा मनोरंजन करता। तोते की गर्दन पर काली रेखा होने के कारण वह बहुत सुंदर लगता था। सब उसे कंठी कहकर पुकारते। केशू ने उसे विठु-विठु कहना सिखा दिया था। दत्तू (काका साहब) को काम सौंपा गया उसे खिलाने-पिलाने का। दत्तू रोज उसे बाजार से केले लाकर खिलाता, हरी मिर्च खिलाता। हरी मिर्च तो तोते की जायकेदार मनपसंद सौगात है। चोंच में मिर्च पकड़कर जब वह जीभ से उसका स्वाद लेता तो देखने वाले को महास्वाद का आनंद आता।

सुबह-शाम पिंजरा धोना, पानी की कटोरी भरकर रखना, पानी में भीगी हुई चने की दाल नाश्ते में देना, दत्तू के दैनिक सेवाकार्य थे। सेवाकार्य से प्रसन्न तोता महाशय भी दत्तू के पिंजरे में उँगली डालने पर पकड़ तो लेता लेकिन उँगली को काटता नहीं था। एक दिन तोते की पूँछ पिंजरे से बाहर आने पर गोंदू (काका साहब का भाई) ने उसे जोर से खींच दिया तो तोता जोर से चिल्लाया। उसकी आवाज सुनकर सब भागकर गए। केशू ने भी गोंदू की चोटी जोर से खींची तो उसे भी चीखकर तोते की नकल करनी पड़ी।

तोते की सेवा भले ही दत्तू करता था लेकिन तोता तो केशू का ही माना जाता था। दत्तू की प्यारी-सी अपनी एक बिल्ली थी। गोंदू अपने नारायण मामा के यहाँ से घर पर एक कुतिया ले आया था, जिसका नाम था टोमी।

रात होते ही तोता सो जाता। एक दिन रात के आठ बजे का समय था। अचानक दत्तू को तोते की चीख सुनाई दी। चौंककर दत्तू ने पिंजरे की ओर देखा तो भीषण दृश्य। दरवाजे पर से खूँटी पर और खूँटी पर से छत के साथ लटकाए हुए पिंजरे पर छलाँग लगाकर बिल्ली तोते को शिकार बनाने की तैयारी में थी। दत्तू ने एक वीर की भाँति दौड़कर हाथ

के एक जोरदार झटके से बिल्ली को नीचे गिराया। उस दिन न जाने कैसा मुहूर्त रहा होगा कि बिल्ली ऊपर से सीधे टोमी पर आकर गिरी। सोए हुए टोमी को अचानक हुई उस घटना से घर की बिल्ली को पहचानने में भूल हुई और उसने बिल्ली को अपना पंजा मारा। बिल्ली की गर्दन टोमी ने अपने दाँतों में दबा ली, तभी दत्तू ने टोमी पर लातों का प्रहार करके बिल्ली की जान बचाई। अब तो तोते के स्थान पर बिल्ली दया की पात्र बन गई थी।

महाभारत का यह अद्‌भुत दृश्य यहीं समाप्त नहीं हुआ। तभी गोंदू ने वहाँ आकर दत्तू को अपनी कुतिया को लात मारते देखा तो उसने दत्तू को दो चाँटे जड़ दिए। महाभारत कथा कुछ और आगे बढ़ी, उसी क्षण बाजार से केशू आ गया। दत्तू केशू का प्रिय पात्र। इसलिए केशू ने हालात को बिना जाने और बिना किसी प्रस्तावना के गोंदू को भी दो चाँटों का इनाम दे डाला। शोर सुनकर घर के सब लोक इकट्ठे हो गए। क्योंकि महाभारत की पूरी कथा का संजय की तरह दृश्यावलोकन करने वाला एकमात्र सर्वज्ञ दत्तू ही था, उसने खाए हुए चाँटों को भूलकर हँसते हुए सारी कथा विस्तार से सुनाई तो सब आश्चर्यचकित रह गए और फिर खूब हँसे।

× × ×

शेर की मौसी यानी कि बिल्ली।

यों तो दत्तू को सभी पशु-पक्षियों से प्रेम था लेकिन सबसे प्रिय पात्र थी बिल्ली। बिल्ली खुशामद करे लेकिन अपने स्वाभिमान को नहीं गँवाती और अपनी संस्कृति तथा सम्मान की सँभाल हर हालत में करती है। किसी दिन पीने का दूध कम पड़ जाने पर भी दत्तू जब तक थोड़ा-सा दूध बिल्ली को न पिला ले तब तक उसे चैन नहीं पड़ता था। बचपन में सफर के समय जहाँ जाना होता, वहाँ की बिल्लियों से दत्तू पूरी तरह परिचित हो जाता। बिल्ली पर घेरा डालना, उसे मार कैसे मारनी, खड्डे में काँटे डालकर ऊपर कागज या कपड़ा बिछाकर बिल्ली को खड्डे में गिराकर पकड़ना, इन सभी कलाओं में दत्तू को प्रवीणता प्राप्त थी।

बिल्ली की पूँछ में बारह रंग-बिरंगी धारियाँ होती हैं, संभवतः इसीलिए ऐसी मान्यता है कि बिल्ली को जान से मार डालने पर बारह ब्राह्मणों को मारने का पाप लगता है। इस मान्यता से परिचित दत्तू बिल्लियों की हत्या

के पाप से मुक्त रह सका।

बिल्ली पकड़ना सरल नहीं है। अव्वल तो बिल्ली हाथ में आना ही कठिन है, अगर किसी तरह हाथ की पकड़ में आ भी जाए तो तुरंत 'घुर्र्र्र्र्-म्याऊँ-म्याऊँ' करके काटेगी और अपने पंजे के नाखून से घाव करेगी। दत्तू और दो-तीन जन मिलकर दो-तीन स्थानों पर बिल्ली की घेराबंदी करते और साथ में एक बड़ा थैला रखते। बिल्ली के घेरे में आते ही छलाँग लगाकर उसकी गर्दन पकड़ते, क्योंकि बिल्ली को गर्दन से पकड़ने पर वह पूरी तरह क़ाबू में आ जाती है और उसे तकलीफ भी नहीं होती है। बिल्ली की गर्दन की चमड़ी हाथ में आते ही उसके दाँत और पंजों के नाखूनों से सुरक्षा हो जाती है। पकड़े जाने पर बिल्ली पिछले पैर उठाकर पंजे से नाखून मारने की कोशिश करती है, सारे शरीर को हर दिशा में मरोड़कर देखती है। बिल्ली पकड़ने वाला नया आदमी हो तो उसे लगेगा कि अभी पंजे से नाखून मारेगी और फिर डरकर वह बिल्ली को छोड़ देगा। एक बार हाथ से छूटी बिल्ली फिर पकड़ में नहीं आ सकती।

दत्तू बिल्ली पकड़ने की कला का भरपूर उपयोग करता। बिल्ली पकड़ते समय एक हाथ से उसकी गर्दन पकड़कर दूसरे हाथ से उसके पिछले पैरों पर जोर से पकड़ बनाते हुए बिल्ली को बड़े थैले में डालकर जल्दी से थैले का मुँह बंद कर देता। बिल्ली कैद हो जाने पर बंगाली इलाज का सहारा लेती है यानी खूब आवाज करती है, लगता है जैसे थैले को फाड़ ही डालेगी। उछल-कूद करते हुए खूब हलचल करती है।

बिल्ली पकड़ते समय कितनी ही बार दत्तू के हाथ-पैर लहूलुहान हुए। लेकिन जिस बिल्ली को पकड़ने का संकल्प लिया, 'उसे फिर जाने नहीं दिया। बिल्ली को पकड़कर दत्तू घर ले जाता और सबसे पहला काम बिल्ली के नाक-कान चूल्हे पर रगड़ने का करता। ऐसी मान्यता है कि ऐसा करने से बिल्ली उस चूल्हे को छोड़कर कहीं नहीं जाती है और वहीं रहकर उस चूल्हे में ही सोती है।

एक बार एक पूरी सफेद बिल्ली दत्तू ने लकड़ी का बक्सा (घर) बनवाकर उसमें रख ली। लेकिन बिल्ली के मछली खाने के शौक के कारण दत्तू को पिताश्री से खूब डाँट खानी पड़ी। बाद में बिल्ली को भरे हृदय से विदाई देनी पड़ी।

कारवार से थोड़े समय के लिए दत्तू का परिवार सावंतवाड़ी गया। वहाँ भोजन के समय नियमित रूप से एक बिल्ली आती। दत्तू उसे भरपेट दूध-भात खिलाता। घर के लोगों को लगने लगा कि दत्तू का बिल्ली पालने का शौक कुछ ज्यादा ही बढ़ गया है तो उन्होंने इसका इलाज करने की तरकीब सोची। अतः विष्णु या अण्णा ने उस बिल्ली का नाम रखा—'दत्तू ची बायको' (दत्तू की बहू)।

यह मजेदार और मनोरंजक प्रसंग काका साहब (दत्तू) के शब्दों में, "वह (बिल्ली) घर में आए कि सब कहते, 'देखो, दत्तू की बहू आई।' मैं उसे खिलाता तब कहते, 'देखो, बहू को कितने प्यार से खिलाता है!' मैं शरमाने लगा। सीधी दृष्टि से बिल्ली की ओर देखता नहीं। देखूँ तो तिरछी नजर से ही। बिल्ली बेचारी को क्या पता? वह तो भोजन के समय मेरे पास आकर बैठे, सामने भी नहीं। मैं उसे समय पर अगर भात न दूँ तो मेरे मुँह की ओर देखकर सिर हिलाकर म्याऊँ-म्याऊँ करे। लोग उसका भी मजाक करें। इसलिए बिल्ली की ओर देखे बिना ही एक निवाला उसकी ओर डाल देता। मैं न दूँ तो बिल्ली परेशान करे। बिल्ली को भगाने का प्रयत्न कर देखा; लेकिन उसमें भी सफल न हुआ। सच पूछो तो ऐसा करने की मेरी हिम्मत भी नहीं पड़ती थी।

कई दिन तक ऐसी हैरानी सहने के बाद मैंने मन से निश्चय किया कि लोग कुछ भी कहें, शरण में आए हुए को मृत्यु न दी जाए। और बिल्ली का क्या गुनाह? फिर तो मैंने सारी शरम हटा दी। एक दिन सब सुनें वैसा कहा, 'हाँ-हाँ, बिल्ली मेरी बहू है। मैं उसे खिलाऊँगा, रोज खिलाऊँगा, प्यार से खिलाऊँगा, अब कुछ रहा है? अब किसी को कुछ कहना है? आ, बिल्ली आ; बैठ मेरे पास।' आदमी बिगड़ा तो सब उससे डरें; उस दिन से किसी ने मेरा या बिल्ली का नाम नहीं लिया।" ऐसा था काका साहब (दत्तू) का पशु-पक्षियों से अलौकिक प्रेम।

× × ×

एक दिन दत्तू माँ के साथ एक बगीचे में घूम रहा था। बगीचे में एक बहुत ही सुंदर, खुशबूदार और ताजा गुलाब के फूल को देखकर उसकी माँ ने उसे तोड़ लिया और जहाँ दत्तू के पिताजी बैठे हुए थे, उन्हें जाकर दे दिया। फूल को देते समय दत्तू ने अपनी माँ की आँखों में एक असाधारण

भक्ति को प्रकट होते स्वयं देखा था। यह एक पति के प्रति एक पत्नी की पतिभक्ति थी। दत्तू ने देखा पिता द्वारा प्रसन्नतापूर्वक फूल लेकर सूँघने पर माँ धन्य हो गई थी और खाली हाथ वापिस लौटी। माँ के भावों को व्यक्त करते हुए काका साहब ने लिखा है कि ''माँ ने मुझसे कहा, 'गुलाब का फूल उन्हें बहुत अच्छा लगता है।' इतनी बात कहे बिना माँ से रहा नहीं गया, यह भी मैंने देखा।''

उस समय दत्तू की समझ में यह भी आया कि माता-पिता का परस्पर संबंध पति-पत्नी का भी होता है। उस दिन से दत्तू पिताजी की सेवा और अधिक प्रेम और श्रद्धा से करने लगा। इसलिए जब कभी सेवा का अवसर मिलता, वह धन्यता का अनुभव करता।

लेकिन एक दिन दत्तू को दुखद अनुभव का भी सामना करना पड़ा। दत्तू के पिताजी की बदली समुद्र किनारे के गर्म प्रदेश कारवार में हो गई और दत्तू भी साथ गया। बेलगाम और सतारा की ठंडी और सूखी हवा में पले हुए ये लोग कारवार की गीली गर्मी में बर्फ की तरह पिघलने लगे। पानी से भरे लोटे के मुँह को रूमाल से बाँधकर उल्टा टाँग देते जिससे ठंडा पानी पीने को मिल जाता।

रविवार के दिन दत्तू के पिताजी भोजन करने के बाद चटाई पर सो रहे थे। हनुमानजी जिस प्रकार रामचन्द्र की सेवा करते थे उसी प्रकार दत्तू भी खड़ा होकर पिताजी को पंखा झल रहा था। खड़े-खड़े और पंखा झलते-झलते दत्तू के हाथ-पैर बुरी तरह थक गए परंतु पितृभक्ति नहीं थकी थी।

इसी बीच शहर की एक स्त्री अच्छी-अच्छी ककड़ी बेचने आई। कोमल और हरी-हरी ककड़ियों को देखकर दत्तू ने सोचा कि पिताजी को यदि ऐसी ककड़ी खाने को मिले तो अंदर ठंडक पहुँचेगी और शांति मिलेगी। छोटा होने के कारण स्वयं तो ककड़ी खरीद नहीं सकता था अतः पिताजी को जगा दिया। गहरी नींद से जाग जाने के कारण वे नाराज होते हुए बोले, ''कैसा कसाई है तू, जरा सोने भी नहीं देता।''

इससे दत्तू को बड़ा आघात लगा। क्या सोचा और क्या हो गया? मुँह से एक शब्द भी नहीं निकल पाया और मौन रहकर खड़ा देखता रह गया। थोड़ी ही देर में पिताजी ने अच्छी ककड़ियाँ जानकर उन्हें खरीद लिया।

ककड़ी को काटकर नमक लगाकर पहला टुकड़ा दत्तू को खाने को दिया तो दत्तू ने कहा, "पहला टुकड़ा आप खाइए।" पिताजी ने कहा, "नहीं, तू खा।" दत्तू का उतरा हुआ चेहरा देखकर सच्चाई वह समझ गए थे और पहले दत्तू को खिलाकर भूल सुधारना चाह रहे थे। दत्तू के जिद करने पर पिताजी ने ककड़ी खा ली और उसके बाद दत्तू ने ककड़ी ले जाकर माँ को खिलाई। माता-पिता को खिलाने के बाद ही दत्तू ने ककड़ी खाई तो असीम आनंद का अनुभव हुआ।

× × ×

भारत में जब रेलें नई-नई शुरू हुई थीं, तब दत्तू बहुत छोटा था। रेलगाड़ी लोगों के कौतूहल का विषय थी। लोग रेलगाड़ी के इंजिन पर फूल चढ़ाकर अपनी सद्भावनाएँ व्यक्त करते थे और कुछ तो इंजिन पर नारियल भी चढ़ाते थे। रेल के डिब्बे में हर तरह के लोगों के बैठने के कारण कई लोग तो कुछ खाते भी नहीं थे। चंद लोग बाँस या बेंत की छोटी-सी पेटी में खाना रख, ऊनी वस्त्र लपेटकर साथ रख लेते थे। स्टेशन आने पर रेल से नीचे उतरकर जमीन पर बैठकर खाना खाते, नल से पानी पीते और फिर डिब्बे में बैठ जाते थे।

उन दिनों स्टेशन पर रेल ज्यादा समय के लिए रुकती थी और उसकी स्पीड भी कम होती थी। उस जमाने में रेल के डिब्बे में शौच जाने की सुविधा नहीं थी। स्टेशन आने पर ही यात्री उतरकर शौच जाते थे।

तब रेल तक पहुँचने के लिए बैलगाड़ी जैसे साधनों को ही उपयोग में लाया जाता था। एक बार दत्तू के परिवार के लोग बैलगाड़ी में बैठकर सतारा से बेलगाम गए। रास्ते में एक नदी के किनारे दोपहर की रसोई (भोजन) करने के लिए रुके। इतने में दत्तू की माँ ने कहा, "देखो, इस नदी के प्रवाह में कितने सारे बुलबुले पैदा होकर बह रहे हैं। यह नदी मासिक धर्म में है। इसलिए इसका पानी इस समय नहीं पीना चाहिए, न इसे रसोई में लेना चाहिए। एक पड़ाव आगे चलकर वहीं पकायेंगे और भोजन करेंगे।"

बाल-बुद्धि दत्तू इस बात को क्या समझता? नदी का पानी खराब है, इसलिए इस पानी को काम में नहीं लेना चाहिए, बस इससे ज्यादा उसके लिए समझने वाली बात नहीं थी। बड़े होने तक काका साहब को यह प्रश्न बराबर परेशान करता रहा कि क्या नदी को भी मासिक धर्म आता है?

हो सकता है? उन्होंने इस प्रश्न का उत्तर कुछ इस प्रकार खोजा, ''मनुष्य जाति के बाल्यकाल में बुद्धि से कल्पनाशक्ति अधिक काम करती है और उनमें से कितनी ही धर्म-भावनाएँ जागती हैं। मूल में होती है, लोकधर्म की भावना।'' नदी के बारे में भी दत्तू की माँ की भावनाएँ लोकधर्म पर ही आधारित थीं। दत्तू ने इस प्रसंग में इसी सच्चाई को समझा और अपनी शंका का समाधान किया।

× × ×

दत्तू के बचपन के अनेकानेक हृदयग्राही, मनोरंजक और जीवनोपयोगी प्रसंगों को यहीं विराम देते हैं। अब उसके किशोरवय होने की मनःस्थिति और उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तित्व का अवलोकन करेंगे।

एक दिन गवसु नाम का एक मुसलमान दत्तू के घर आया, जिसने दत्तू के पिताजी से सौ सवा सौ रुपये सूद पर लिए थे। इन पैसों का सूद चढ़ जाने के बाद भी वह नया कर्ज लेने आया था। गवसु एक आलसी आदमी होने के कारण कुछ खास काम-धन्धा नहीं करता था। पेट भरने लायक थोड़ा-बहुत हो जाए, बस यही बहुत। आमदनी से अधिक खर्च था, इसीलिए नए कर्ज के लिए आया था। नए कर्ज के लिए वह अपना घर भी गिरवी रखने को तैयार था।

विद्वान और अनुभवी लोगों का कहना ठीक ही है कि आलस्य और अकर्मण्यता व्यक्ति को समाप्त कर देते हैं। यही स्थिति गवसु की भी बन चुकी थी।

पिताश्री ने दत्तू से पूछा, ''दत्तू, यह गवसु दूसरे सौ रुपये माँगता है और गिरवी में अपना घर रखना चाहता है। उसे हम रुपये सूद पर दे दें?''

ऐसा सुनकर दत्तू आश्चर्यचकित। पैसे सूद पर देने जैसी महत्व की बात में पिताश्री दत्तू की राय जानना चाहेंगे, ऐसी उसे कल्पना भी नहीं थी। दत्तू को रोमांचकारी आनंद का अनुभव हुआ कि अब वह बड़ा हो गया है क्योंकि पारिवारिक राज्य में मत देने का अधिकार जो उसे मिल रहा था।

हृदय की खुशी चेहरे पर झलकने लगी। लेकिन थोड़ी ही देर में खयाल आया कि अब वह बड़ा हो गया है और बड़प्पन को देखते हुए उसे गंभीर

बनना चाहिए। पारिवारिक कार्यों में अब राय देने के अनेक अवसर आएँगे तो इस नवीन अधिकार के लिए योग्यता भी तो रखनी चाहिए, साथ ही मुखमुद्रा पर स्वाभाविकता भी होनी जरूरी है। बड़ी उम्र का होने पर विचारों में भी परिपक्वता होनी चाहिए। दत्तू ने विनम्रता के साथ अपने पिताश्री से कहा, "पैसों के व्यवहार में मैं क्या समझूँ? फिर भी मुझे लगता है कि इस आदमी को हमें पैसे देने ही नहीं चाहिए। इसके घर, मैं कई बार हो आया हूँ। घर में एक बूढ़ी अम्मा है, स्त्री है और बच्चे हैं। गवसु तो सारा दिन भटकता है। घर की स्त्रियाँ बेचारी बड़ी कुकड़ियाँ भरने का काम करती हैं। सुबह से शाम तक फिरकी घुमाती हैं, तब मुश्किल से निर्वाह जितना पाती हैं। गवसु लिया हुआ कर्ज वापिस नहीं लौटा सकेगा। आखिर हमें उसका घर जप्त करना पड़ेगा; तब उसके बीवी-बच्चे कहाँ जाएँगे?"

पिताश्री को भी दत्तू की बात जँची। उन्होंने उस आदमी से कह भी दिया, "गवसु, दत्तू अप्पा कहते हैं वह बात सत्य है।"

बाद में गवसु द्वारा पैसे न लौटाए जाने पर कोर्ट केस हो गया। सम्मन होने पर बेलिफ के साथ दत्तू को गवसु के घर जाना पड़ा। इस कार्य से दत्तू को बहुत शर्म आई लेकिन मजबूरी थी, क्योंकि घर के मिले अधिकार के कारण ऐसे ओछे काम की जिम्मेदारी दत्तू के सिर पर जो आ गई थी। वफादारी के साथ हर काम पूरा करने लायक अब दत्तू बड़ा हो गया था। गवसु का घर नीलाम करके जप्त करने की बात आने पर दत्तू के लिए यह असह्य हो गया। दत्तू ने मुंसिफ से कहा कि "इस गरीब का घर नीलाम हो, यह मैं नहीं चाहता। उसके लिए किस्त बाँध दीजिए।" कोर्ट द्वारा मासिक किस्त बना देने पर दत्तू को बड़ी राहत मिली। उसे लगा जैसे उसने पुण्य का यह काम करके अपने-आपको एक बुरे काम से बचा लिया।

दत्तू ने इस घटना का सारा विवरण पत्र द्वारा पिताश्री को दिया। पिताश्री का जवाब था कि, "तुमने योग्य किया।"

तेरह-चौदह साल के दत्तू को विश्वास हो गया कि अब वह बड़ा हो ही गया है।

इस प्रकार दत्तू ने बचपन की यात्रा समाप्त करके किशोरावस्था में प्रवेश किया।

३. शिक्षा तथा क्रांति की तैयारी

बालक दत्तू की शिक्षा सतारा में प्रारंभ हुई। दत्तू की उम्र पाँच वर्ष की थी, तब माँ से पाठशाला जाने की जिद करने लगा। उसकी पढ़ाई के बारे में घर में किसी को चिंता नहीं थी। दत्तू के पिताजी दफ्तर में होते और बड़े भाई पाठशाला में, उस समय पढ़ाई के लिए दत्तू माँ से पाठशाला जाने का आग्रह करता।

आखिर दत्तू की जिद पूरी हुई। माँ ने पाठशाला जाने की अनुमति दे दी। पहले दिन दत्तू के सिर पर सफेद बिन्दी वाला एक लाल साफा बाँधा गया और पाठशाला भेज दिया। दत्तू का यह भेष देखकर तो मानो लड़कों को एक नया खिलौना मिल गया। वे कभी दत्तू को खिझाते तो कभी रुलाते। पाठशाला में पेठे नामक मास्टरजी की जेब में बताशे पड़े रहते, दत्तू को देखकर एक-आध बताशा उसे भी दे देते।

पहले ही दिन दत्तू पर एक संकट आ गया। खेलते-खेलते सिर का साफा खुल जाने से दत्तू उलझन में फँस गया। सिर का साफा स्वयं तो उसे बाँधना आता नहीं था और साथ के बच्चों को बताते हुए शर्म आती थी। आखिर एक लड़के के साफा बाँधने पर दत्तू सुरक्षित घर वापिस आया।

अब तो दत्तू को पाठशाला जाने में आनंद आने लगा। धीरे-धीरे सड़क पर चलने की हिम्मत भी आ गई। घर वालों के मना करने पर भी वह भागता हुआ पाठशाला जाने लगा। उसे पकड़ने के लिए भाई महादू उसका पीछा करता, पर दत्तू हाथ नहीं आता। वह पीछे मुड़-मुड़कर देखता जाता और भागता जाता।

इस प्रकार दत्तू की पाठशाला जाने की तीव्र इच्छा देखकर किसी अच्छे मुहूर्त में उसे दाखिला दिलाने का निश्चय किया गया। यह शुभ दिन था

दशहरे का। पाठशाला के सब विद्यार्थी अच्छे-अच्छे कपड़े पहनकर उपस्थित हुए।

विद्यारंभ के इस उत्सव के लिए दत्तू के हाथों में सोने के कड़े, कानों में मोती की बालियाँ और गले में सोने की कंठी पहनाई गई थी। इस प्रकार नंदी (शिवजी का वाहन) की तरह सजाधजाकर पाठशाला जाने का शुभारंभ हुआ।

इस अवसर पर पाठशाला में मिठाई बाँटी गई। पाठशाला के मास्टरजी को तो चाँदी की तश्तरी में खास तरह की मिठाई भेंट की गई। दत्तू को एक पट्टी लेकर बिठाया गया और उसके पास एक बूढ़े मास्टरजी भी आकर बैठ गए। मास्टरजी ने उसकी स्लेट पर बड़े-बड़े सुंदर अक्षरों में 'श्री गणेशाय नमः' तथा 'ओम् नमः सिद्धम्' लिख दिया। पट्टी पर हल्दी-कुंकुम आदि चढ़ाकर दत्तू के हाथों से उसकी पूजा कराई। फिर उसके हाथ में एक पेंसिल दी और उसका हाथ पकड़कर एक-एक अक्षर पर उसका हाथ घुमाने लगे और मुँह से अक्षरों का उच्चारण भी करवाने लगे। सारे अक्षरों पर एक बार हाथ फिराने के बाद उस दिन की पाठशाला पूरी हुई। इस तरह दत्तू शिक्षा का विधिवत विद्यार्थी बना।

दत्तू को गणित विषय में बहुत आनंद आता था। उसमें गणित-बुद्धि अंग्रेजी की पहली कक्षा में जाग्रत हुई। गणित का प्रारंभ कारवार की मराठी पाठशाला में हुआ। पढ़ाई के समस्त विषयों में गणित कुछ खास बातों में सबसे अलग रहता है। गणित में दत्तू की रुचि बहुत अधिक थी। सवाल हल करने में उसे महारत हासिल हो गई थी। हाईस्कूल कॉलेज में उसका गणित पहले नम्बर का माना जाता था।

दत्तू के पिताश्री का तबादला जिस शहर में हो जाता, वहीं दत्तू की शिक्षा भी होती थी। सतारा, कारवार, पूना का नूतन मराठी विद्यालय, शाहपुर की पाठशाला आदि में दत्तू ने पढ़ाई की।

कारवार के हिन्दू स्कूल में दूसरी कक्षा में ही गणित का विषय अंग्रेजी में पढ़ाया जाता था। दत्तू की अंग्रेजी अच्छी नहीं थी। बाद में केशू (भाऊ) ने मेहनत करके दत्तू को अंग्रेजी का भी बहुत अच्छा ज्ञान करा दिया।

दत्तू की माँ को उसकी पढ़ाई की बहुत चिंता रहती थी। दत्तू की पढ़ाई के बारे में एक बार बाबा (दत्तू के बड़े भाई) से कहा भी—"मैं इसके हाथ में पुस्तक तो कभी देखती ही नहीं। सारा दिन फालतू बातों में गँवाता फिरता है। एक दिन भी ऐसा याद नहीं आता, जब यह समय पर पाठशाला

गया हो; और रात को पहाड़े बोलते-बोलते ही सो गया न हो। इसका क्या होगा? इसकी जबान में विद्या लगेगी या नहीं?''

बाबा ने माँ को समझाते हुए कहा, ''माँ, तू व्यर्थ चिंता करती है। दत्तू की बुद्धि अच्छी है। वह कोई जड़ नहीं है। जब पढ़ता है तो ध्यान देकर पढ़ता है। शरीर से कमजोर है, इसलिए दूसरे लड़कों की तरह लगातार घंटों तक नहीं पढ़ सकता। लेकिन उसमें कुछ हर्ज नहीं। जब मैं इसे समझाता हूँ, तब झट समझ लेता है। तू इसकी कुछ भी फिकर मत कर।''

इस पर माँ की प्रतिक्रिया कुछ इस प्रकार थी, ''तू इतना यकीन दिलाता है, तब तो मुझे कोई चिंता नहीं। पढ़ाई के मामलों में मैं क्या जानूँ? मैं तो इतना ही चाहती हूँ कि यह निरा बुद्धू ही न रह जाय। जब हम नहीं रहेंगे, तब तुम सब बड़े हो गए होगे। मेरा दत्तू सबमें छोटा है। पढ़ा-लिखा न होगा तो इसकी बड़ी दुर्गति होगी। यह बड़ा होकर कमाने-खाने लगे, तब तक मेरी जीने की इच्छा अवश्य है। दत्तू को जब मैं अच्छी तरह जमा हुआ देखूँगी, तब सुख से आँखें मूँद लूँगी।''

बड़े भाई द्वारा माँ को आश्वस्त किए जाने का असर दत्तू के मन पर स्थायी रूप से पड़ा। माँ और बड़े भाई का वार्तालाप वह सोने जैसी मुद्रा बनाकर सुन रहा था।

बचपन से ही दत्तू को कॉपी (नकल) करने से बहुत चिढ़ थी। इस सम्बन्ध में काका साहब ने स्वयं लिखा है, ''दूसरे लड़के की स्लेट या पुस्तक में चोरी से देखकर मैंने उत्तर लिखा हो, ऐसी एक भी घटना मेरे जीवन की नहीं है। परीक्षा के समय पास में बैठे हुए लड़के से पूछना या अपने पास पुस्तक छिपाकर उसमें से चोरी से उत्तर देख लेना, कुर्ते की बाँह पर पेंसिल से उपयुक्त जानकारी लिखकर परीक्षा में उसका उपयोग करना, स्याहीचूस की तह करके उसके अन्दर इतिहास के सन् लिख रखना, पास में बैठे हुए लड़के से कागज की अदला-बदली करना वगैरा चौर्यशास्त्र के अनेकानेक प्रयोग एवं तरकीबें तो मैं खूब जानता था, लेकिन एक दिन भी मैंने इनका प्रयोग नहीं किया। जिस-जिस स्कूल में मैं गया (और मैंने कोई कम स्कूल नहीं देखे। किसी भी स्कूल में मैंने लगातार एक साल तक पढ़ाई की ही नहीं।) उस-उस स्कूल में शिक्षकों और विद्यार्थियों में मेरी प्रामाणिकता पर किसी को शंका नहीं हुई। शिक्षक की गैरहाजिरी में कक्षा

में यदि कोई बात होती और उसकी शिकायत शिक्षक तक पहुँचती, तो उसमें दोनों पक्ष के विद्यार्थी मेरी गवाही लेने को शिक्षकों से कहते। कई बार मैं गवाही देने से इन्कार करता, लेकिन जब कभी कहता सच ही कहता।''

जीवन पाथेय—दत्तू के पाँच भाइयों में केवल अण्णा ही बी. ए. तक जा पाए थे। शेष भाइयों की पढ़ाई बीच में ही रह गई थी। दत्तू के पिता द्वारा सबके लिए अंग्रेजी शिक्षा पर खूब खर्चा करने पर भी उनकी आशा पूर्ण नहीं हुई थी। इसलिए दत्तू को भी कॉलिज भेजने में उनको झिझक हो रही थी। लेकिन मैट्रिक में दत्तू के पास हो जाने पर वे आशान्वित हुए।

यूनिवर्सिटी स्कूल फाइनल की परीक्षा में दत्तू अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुआ और उसका नम्बर काफी ऊँचा रहा। लेकिन कॉलिज में भर्ती कराने के लिए पिताश्री फिर भी राजी नहीं हुए। आखिर में दत्तू ने पिताश्री से आग्रहपूर्वक कहा, ''आप जानते हैं कि मेरे अंग्रेजी और गणित दोनों विषय अच्छे हैं। मुझे इंजीनियरिंग लाइन में जाने दीजिए। प्रीवियस की परीक्षा पास किए बिना इंजीनियरिंग कॉलिज में जाया ही नहीं जाता, इसलिए एक ही वर्ष के लिए मैं आर्ट्स कॉलिज में जाऊँगा।''

इस बात का असर दत्तू के पिताश्री पर अच्छा पड़ा और उन्होंने दत्तू को कॉलिज जाने की अनुमति दे दी।

वकील बनकर दूसरों के झगड़े विदेशी अदालतों में लड़ाते रहना दत्तू को पसंद नहीं था। बी. ए., एल. एल. बी. होकर तहसीलदार या मुंसिफ बन जाने पर रिश्वती होने का डर था। इसलिए एल. सी. ई. होकर इंजीनियर बनने का मन में विचार उत्पन्न हुआ। क्योंकि इंजीनियर का जीवन बड़ा शान-शौकत का प्रतीत हो रहा था। लेकिन जिस दिन दत्तू कॉलिज जाने वाला था, उसी दिन सांगली स्टेशन पर पिताश्री मिल गए। वे सांगली राज्य के ट्रेजरी-ऑफीसर की हैसियत से तीन लाख रुपये लेकर पुलिस-रक्षा के साथ पूना जाने वाले थे। उन्हें पूना से राज्य के लिए प्रॉमिसरी नोट खरीदने थे। यह जानकारी मिलने पर दत्तू ने पिताश्री से कहा, ''नोटों के भाव रोजाना बदलते रहते हैं। यदि हम कुछ कोशिश करें तो खुले भावों से कुछ सस्ती कीमत में नोट खरीद सकेंगे। राज्य को तो खुले भाव ही बतलाएँ और बीच में जो मुनाफा होगा वह हम ले लें। किसी को पता भी न चलेगा और सहज ही बहुत-सा मुनाफा मिल जाएगा।''

दत्तू को लगा कि पिताजी ने उसकी बात बहुत शांति से सुनी है। उसे इस बात का खयाल तक नहीं था कि उसकी बात से उन्हें कितनी ठेस लगी है।

कुछ देर बाद पिताजी ने रुँधे गले से कहा, "दत्तू, मैं यह नहीं मानता था कि तुझमें इतनी हीनता होगी। तेरी बात का अर्थ यही है न कि अपने अन्नदाता को धोखा दूँ? लानत है तेरी शिक्षा पर। अपने कुल-देवता ने हमें जितनी रोटी दी है, उतनी से हमें संतोष मानना चाहिए। लक्ष्मी तो आज है, कल चली जाएगी। इज्जत के साथ अंत तक रहना ही बड़ी बात है। मरने के बाद जब ईश्वर के सामने खड़ा होगा तब क्या जवाब देगा? तू कॉलिज में जा रहा है। वहाँ पढ़-लिखकर क्या तू यही करेगा? इसकी अपेक्षा यदि यहीं से वापिस लौट जाए तो क्या बुरा है?"

यह सुनकर दत्तू सन्न रह गया। काटो तो खून नहीं। गाड़ी में सारी रात नींद नहीं आई। सुबह पूना पहुँचने से पहले धन का लोभ न करने का संकल्प लिया। और पिताजी का नाम नहीं डुबोने का मन में दृढ़ निश्चय किया।

इसी विश्वास और भावना को लेकर दत्तू ने कॉलिज में प्रवेश किया।

कॉलिज में जाने से पूर्व दत्तू के क्रांतिकारी विचार कच्चे थे, लेकिन कॉलिज में दाखिल होने के बाद समान विचार वाले साथियों के साथ विचार-विनिमय करने का अवसर प्राप्त हुआ और विदेशी राज्य के खिलाफ क्रांतिकारी विचारों में दृढ़ता और परिपक्वता आई। इतनी भव्य संस्कृति के वारिस हम विदेशियों की गुलामी कैसे सहन कर सके और मुक्त होने के प्रयत्नों में बार-बार हमें हार क्यों मिली, इसका चिंतन-मनन कॉलिज के दिनों में ही संभव हुआ। क्रांतिकारी यानी हिंसा के साधनों द्वारा अंग्रेजों का राज्य तोड़कर दत्तू ने भारतमाता को मुक्त कराने का निश्चय किया।

कॉलिज में चार वर्षों तक पढ़ाई की। अनेक विषयों का अध्ययन किया। कई मनोरथ किए। साथियों के सहयोग से उन मनोरथों को साधने का विचार किया। उसके अनुसंधान में समाज और देश का गहराई से निरीक्षण किया। बड़े-बड़े लोगों के विचार सुने। भगवान् का चिंतन करके संत ज्ञानेश्वर, रामदास, नामदेव, तुकाराम जैसा भक्तयोगी बनने का भी मन में भाव उत्पन्न हुआ। इन सबको लेखनीबद्ध करने का विचार मन में पैदा हुआ तो दत्तू (काका साहब) ने इसे नाम दिया 'मनोमंथन'।

पूना (पुणे) के फर्ग्युसन कॉलिज में सन् 1904 से 1907 तक विद्याध्ययन किया। फर्ग्युसन कॉलिज से दर्शन में उन्होंने एम. ए. (स्नातकोत्तर) की उपाधि प्राप्त की। बालगंगाधर तिलक के दैनिक 'राष्ट्रभक्त' में पत्रकारिता सीखी। इस अवधि में देश में कई घटनाएँ घटीं। 1905 में बंग-भंग (बंगाल का विभाजन) हुआ। गोपालकृष्ण गोखले बनारस में कांग्रेस अध्यक्ष बने। सन् 1906 में बहिष्कार आंदोलन शुरू हुआ। लाला लाजपतराय का निर्वासन हुआ। काका साहब ने मई 1907 में वर्षों तक शक्कर (मीठा) न खाने का व्रत लिया। इस थोड़ी-सी अवधि में दत्तात्रेय (दत्तू) पूर्ण रूप से रामतीर्थमय हो गया था।
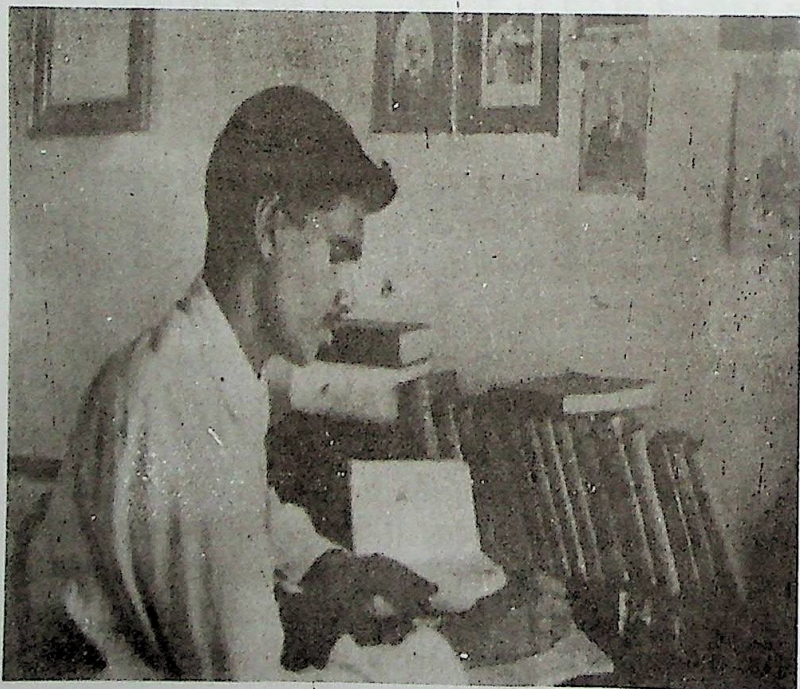
पूना के फर्ग्युसन कॉलिज के विद्यार्थी दत्तात्रेय कालेलकर

स्वामी रामतीर्थ स्वामी विवेकानंद के ही नए प्राणवान अवतार हैं। स्वामी रामतीर्थ के बारे में दत्तात्रेय के मन में ऐसी पहचान स्थापित हुई। क्योंकि सच्चे भगवान् को पहचानने का अवसर दत्तात्रेय को स्वामी विवेकानंद के लेखों द्वारा ही मिला। उसके भोलेपन का पौराणिक हिन्दू धर्म पिघल

गया और उसकी जगह स्थिर हो गयी वेदांत की आध्यात्मिक परमात्मनिष्ठा। उन दिनों स्वामी रामतीर्थ के लेख देश के अंग्रेजी मासिकों में प्रकाशित हो रहे थे। स्वामी रामतीर्थ अद्वैतवादी वेदान्ती, राष्ट्रभक्त, संस्कृति के आचार्य और समाज-सुधारक थे। स्वामीजी के इस बहुआयामी व्यक्तित्व का प्रभाव दत्तात्रेय पर स्थायी रूप से पड़ा। काका साहब और बड़े भाई के एक स्नेही नागेशराव गुणाजी दोनों ने मिलकर 1908 में स्वामी रामतीर्थ के अंग्रेजी तथा हिंदी के लेखों को इकट्ठा करके उनका प्रचार शुरू कर दिया। उनके लेखों का मराठी में अनुवाद भी किया। स्वामी रामतीर्थ के विचारों, उनके साहित्य और जीवन के प्रति दत्तात्रेय के मन में अत्यधिक आदर की भावना समाहित हो गई थी।

बैरिस्टर काका साहब

कॉलिज जीवन में दत्तात्रेय इस निर्णय पर पहुँच गए थे कि राजनैतिक एवं धार्मिक जीवन में एक बड़ी क्रांति की जरूरत है। बी. ए. करने के बाद उनके मन में आगे पढ़ाई न करके सार्वजनिक सेवा करने का भाव पैदा हो गया था। मैजिबी ने क्रांति के द्वारा जिस प्रकार से इटली में लोकजागृति का कार्य किया, उसी प्रकार का प्रारंभ करके वर्द्धमान पीढ़ी को तालीम दी जानी चाहिए, तभी क्रांति सफल होगी, ऐसा दत्तात्रेय का मानना था।

दत्तात्रेय एल. एल. बी. की तैयारी करने की बात अपने पिताश्री से कहकर बम्बई (मुंबई) पहुँच गए। वहाँ एक राष्ट्रीय मराठी अखबार के सम्पादक-मंडल में शामिल हो गए।

4. गंगनाथ विद्यालय : राष्ट्रीय शिक्षण

महाराष्ट्र तथा गुजरात में नए विचारों का प्रचार जोरों से करने के लिए लोकमान्य तिलक ने बम्बई में एक मराठी दैनिक अखबार शुरू करने का निश्चय किया। अखबार का नाम रखा 'राष्ट्रमत'।

'राष्ट्रमत' शुरू तो हुआ लेकिन भारत की विदेशी सरकार ने लोकमान्यं तिलक पर राजद्रोह का मुकदमा चलाकर उन्हें छह साल की सजा सुनाई और जहाँ-तहाँ लोगों का दमन करना प्रारंभ किया। 'राष्ट्रमत' कुछ दिन चला परंतु चलाने वालों को सफलता नहीं मिली। बाद में बेलगाम के गंगाधरराव देशपांडे ने लोकमान्य के कहने पर 'राष्ट्रमत' का सारा तंत्र अपने हाथ में ले लिया।

बम्बई में काका साहब को रहने के लिए गंगाधरराव ने अपने कमरे में ही स्थान दिया था। परिणामस्वरूप उनसे मिलने आने वाले उत्तमोत्तम नेताओं से काका साहब का भी परिचय हुआ। जिनमें—रावबहादुर गणेश व्यंकटेश जोशी, कृष्णाजी पंत, खाडिलकर, नरसो पंत केलकर, वासु काका जोशी, डॉ. बाबा साहब परांजपे, काका पाटिल, माधवराव अणे जैसे विख्यात नेता थे।

काका साहब का सम्बन्ध बम्बई, पूना और दक्षिण महाराष्ट्र से था, किंतु 'राष्ट्रमत' में सारे महाराष्ट्र से वह एक-हृदय हो गए। 'राष्ट्रमत' पर सरकार की कुदृष्टि थी। सरकार ने राष्ट्रमत से दो हजार रुपये की जमानत माँगी। आखिरकार परिस्थितिवश 'राष्ट्रमत' बंद हो गया।

इसी बीच बड़ौदा से केशवराव देशपांडे गंगाधरराव से मिलने बम्बई आए। केशवराव देशपांडे श्री अरविंद घोष के निकट के स्नेही साथी तथा सयाजीराव गायकवाड़ राज्य के एक ऊँचे ओहदेदार (सूबेदार यानी डिस्ट्रिक्ट

मजिस्ट्रेट, कलेक्टर के जैसे) थे। देशपांडे ने गंगाधरराव से कहा, "गंगाधरराव, मैंने सुना है कि आपके यहाँ काका कालेलकर नाम के आपकी ओर के एक सेवक हैं, राष्ट्रीय शिक्षण में दिलचस्पी रखते हैं। आप जानते हैं कि गंगनाथ विद्यालय नाम की राष्ट्रीय पाठशाला हम चलाते हैं। अभी-अभी उस विद्यालय को नर्मदा तट से हटाकर बड़ौदा लाए हैं। इसके लिए एक आचार्य की जरूरत है। आपके काका कालेलकर वह काम ले सकेंगे?"

गंगनाथ विद्यालय के संस्थापक बैरिस्टर केशवराव देशपांडे के साथ काका साहब

तब गंगाधरराव ने देशपांडे से काका साहब का परिचय कराया। काका साहब ने देशपांडे के गंगनाथ विद्यालय के आचार्य बनने के आग्रह को स्वीकार कर लिया। सन् 1911 में बड़ौदा पहुँचकर काका साहब ने गंगनाथ विद्यालय

का कार्यभार सँभाल लिया।

वह समय क्रांति का नहीं, क्रांति की पूर्वतैयारी का था।

बड़ौदा के कुछ देशभक्तों ने 'गंगनाथ विद्यालय' की स्थापना की थी। उस समय सयाजीराव गायकवाड़ बड़ौदा राज्य की गद्दी सँभाले हुए थे। स्वराज्य की एक प्रकार की निःशस्त्र सेना तैयार की जा सकेगी ऐसी महत्वाकांक्षा के साथ गंगनाथ में शिक्षक और विद्यार्थी पसंद किए गए।

गंगनाथ विद्यालय को चलाने में सरकार के साथ जो अनुभव काका साहब को हुए उनमें से कुछ बहुत ही दुखदायी और शर्मनाक थे। काका साहब ने लिखा है, "उस समय की देश की स्थिति की कल्पना आज के जमाने की हो ही नहीं सकती और विदेशी राज्य की गुलामी में रहने से प्रजा कितनी गिर सकती है उसका खयाल करना भी आसान नहीं है।"

बड़ौदा के राजा सयाजीराव गायकवाड़ के बारे में उनका कहना है, "वे अपनी स्वतंत्रता और अधिकारों को दृढ़ता से सँभालते थे। उन्होंने किसी भी प्रकार के गुनाह को प्रोत्साहन नहीं दिया था, न मदद की थी और न ही छिपाने की कोशिश की थी। परंतु अपने राज्य में रहने वाले लोगों और अपने यहाँ चलने वाली संस्थाओं के प्रति अंग्रेज सरकार आशंका की दृष्टि से देखती है, इसी वजह से उन्हें परेशान करना और उनके नागरिक अधिकारों पर अंकुश रखना सयाजीराव को कतई मंजूर नहीं था। वे स्वयं भारतभक्त थे और सारे भारत की प्रजा का आदर पा सके थे।"

काका साहब आगे लिखते हैं, "सयाजीराव को बदनाम करने के लिए एक अत्यंत हीन मुकदमा विलायत की कोर्ट में दाखिल हुआ।...सयाजीराव ने जवाब भेजा, 'मेरे खिलाफ मुकदमा चलाने वाले आप कौन होते हैं? मैं ब्रिटिश प्रजाजन थोड़े ही हूँ? एक स्वतंत्र राजा हूँ। मुझ पर मुकदमा चलाने का आपको कोई अधिकार नहीं है।' आखिर वह मुकदमा खारिज हुआ।"

"...इसी बीच सन् 1911 में अंग्रेज सरकार द्वारा इंग्लैंड के सम्राट के राज्यारोहण का उत्सव मनाने के लिए दिल्ली में एक दरबार का आयोजन किया गया।...उसमें भारत के सम्राट के तौर पर सबकी सलामी लेने के लिए इंग्लैंड के राजा-रानी आए थे। उसमें प्रथम तो भारत का राज्य चलाने वाले वायसराय ने सलाम किया। बाद में सब गवर्नरों ने बारी-बारी से सलाम किया। उसके बाद भारत के राजाओं की बारी आई। सबसे बड़े तो दक्षिण

हैदराबाद के निजाम थे, उनके बाद बड़ौदा के सयाजीराव की बारी आती थी और उनके बाद दूसरे राजाओं की। अपेक्षा यह थी कि सलाम करने वाला व्यक्ति सलाम करने के बाद बादशाह की ओर पीठ न करके उनकी ओर मुँह रखकर पीछे पाँव चला जाय। सयाजीराव को ऐसा करते हुए कुछ खंभा-सा दिखाई दिया इसलिए दुविधा में पड़ गए। रास्ता देखने के लिए पीठ फेरकर अपनी जगह बैठ गए।

...इस पर बड़ा हो-हल्ला मचा। सयाजीराव ने इंग्लैंड के राजा-रानी को एक ही बार सलाम किया। रानी को अलग से सलाम नहीं किया और बादशाह की ओर पीठ की, यह बड़ा भारी अपमान हुआ, इसलिए उन्हें गद्दी से हटा देना चाहिए, ऐसी जाहिरा चर्चा शुरू हुई। इस प्रकार यह सारा प्रकरण चला।''

सरकार की ओर से केशवराव देशपांडे को सरकारी नौकरी से हटा देने तथा गंगनाथ संस्था को बंद करने की बात उठाई गई तो देशपांडे ने अपनी प्रतिष्ठा कायम रखते हुए बड़ौदा राज्य की नौकरी से स्वयं त्यागपत्र दे दिया।

बाद में गंगनाथ विद्यालय के शिक्षक और विद्यार्थी भी विद्यालय में रहने को तैयार नहीं हुए। इससे काका साहब एक प्रकार से अपंग हो गए और उन्हें गंगनाथ विद्यालय के बंद होने से बड़ा आघात लगा।

काका साहब के अनुसार, ''अंतर्मुख होकर अपनी इस निराशा से मैं खूब लड़ा। अंत में सूझा कि दुनिया की प्रवृत्तियों को छोड़कर अध्यात्म-साधना के लिए हिमालयवासी होने का अपना पुराना संकल्प फलीभूत हो ऐसी ही भगवान् की इच्छा दीखती है।''

दत्तात्रेय हिमालय यात्रा की तैयारी में जुट गए।

5. हिमालय की यात्रा

राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा देश की आजादी के लिए क्रांतिकारी बनना चाहिए, कॉलिज की पढ़ाई की समाप्ति के साथ ही यह मिशन दत्तात्रेय पर सवार हो गया था।

लेकिन काका साहब समझ चुके थे कि स्वातन्त्र्य प्राप्ति के लिए जो तैयारी होनी चाहिए थी, उसका हजारवाँ तो क्या लाखवाँ हिस्सा भी हम नहीं कर पाए हैं। स्वामी विवेकानंद का वेदांत, रामकृष्ण मिशन, डॉ. भगवानदास का सर्वधर्म अध्ययन, रवीन्द्रनाथ का काव्यमय जीवनतत्व ज्ञान, लोकमान्य तिलक की प्रेरणा से आई हुई राष्ट्रीय जागृति, श्री अरविंद घोष की यौगिक शक्ति—ये समस्त चीजें प्रेरक और प्रोत्साहक तो थीं लेकिन सारे राष्ट्र का तुरंत उत्थान करने की आवश्यकता को पहुँच सके, ऐसी कोई संस्थागत प्रवृत्ति दिखाई न देने से काका साहब बहुत निराश हो गए थे।

मर्माहत और निराश काका साहब ने हिमालय में जाकर आध्यात्मिक साधना करने का निर्णय किया। काकी (पत्नी) और बच्चों को अपने ससुर के यहाँ छोड़कर उनके खाने-पीने की व्यवस्था कर दी।

"हिमालय की यात्रा को जा रहा हूँ" इतना ही कहकर निजी और सार्वजनिक जीवन का अंत कर दिया। हिमालय पहुँचे राष्ट्रमत के अपने साथी स्वामी आनंद को लिखा कि "मैं सब प्रवृत्तियों से मुक्त हो गया हूँ। भगवान् के पास से नई प्रेरणा प्राप्त करने के लिए हिमालय आ रहा हूँ।"

हिमालय की यात्रा उन दिनों आज की तरह सुगम और सरल नहीं थी। मान्यता थी कि वह मनुष्य की अंतिम यात्रा होती थी। इसलिए यात्री सबसे अपने दोषों की क्षमायाचना करके अंतिम विदाई लेकर गमन

करता था।

हिमालय की यात्रा में काका साहब के अपने साथी रामदासी सम्प्रदाय के महन्त अनन्त बुआ साथ थे। पहले वे प्रयाग (इलाहाबाद), बनारस और गया की त्रिस्थली गए और माता-पिता का श्राद्ध किया। बाद में कलकत्ता पहुँचकर बेलूड़ मठ में रामकृष्ण मिशन के साधकों से भेंट की। फिर अयोध्या
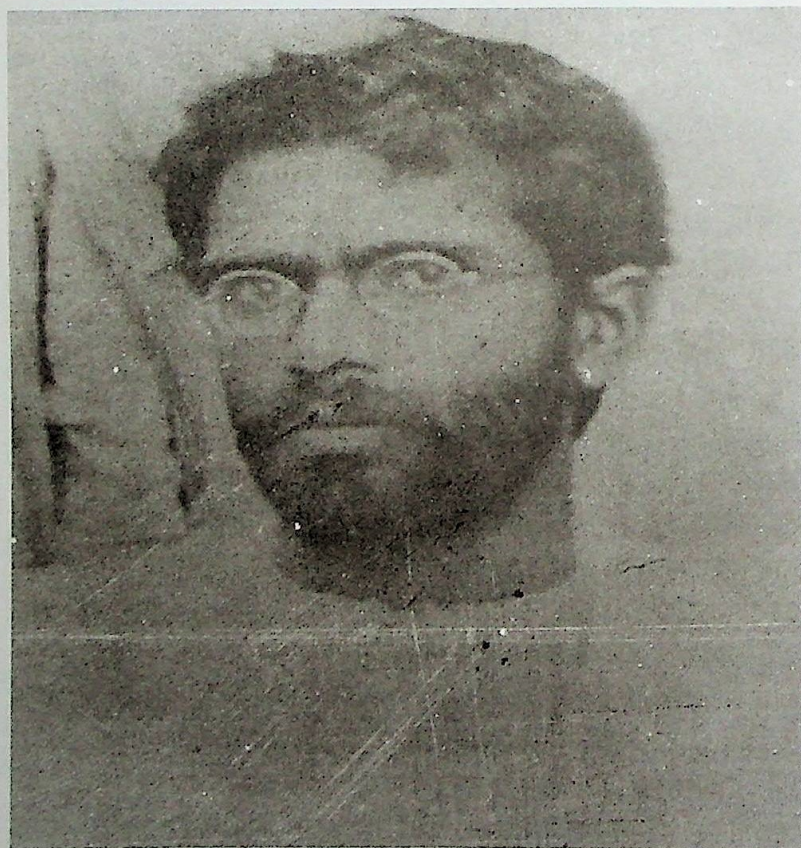
हिमालय यात्री स्वामी लीलानंद (काका साहब)

होते हुए अल्मोड़ा पहुँचे। यहाँ से स्वामी आनंद को साथ लेकर हिमालय की यात्रा पर चल पड़े।

तीनों यात्रियों ने हिमालय में लगभग ढाई हजार मील की पैदल यात्रा की। ये सामान्य यात्री नहीं थे और न प्राचीन प्रवृत्ति के साधक थे। इन

यात्रियों के पास विशेष दृष्टि थी—वह थी देश-दर्शन, प्रकृति की भव्यता और रमणीयता तथा समाज-निरीक्षण की। हिमालय यात्रा के अनुभवों और आनंद का विस्तृत वर्णन काका साहब ने गुजराती में लिखी अपनी पुस्तक 'हिमालय की यात्रा' में किया है।

हिमालय की इस यात्रा में उन्होंने एक-दो स्थानों पर रुककर ध्यान-साधना भी की। यहीं से उनका एक अन्य नाम स्वामी लीलानंद पड़ा।

उनकी हिमालय यात्रा का अंत सन् 1913 में नेपाल की यात्रा के साथ हुआ। पाण्डव काल से लेकर अब तक नेपाल का और तिब्बत का संबंध कैसा रहा, यह जानने की उनकी प्रबल इच्छा थी। नेपाल जाने के बाद भी वे खोजरनाथ नहीं जा सके, इसका काका साहब को बहुत दुख हुआ।

नेपाल यात्रा के साथ ही उनका हिमालय का पर्व पूरा हुआ। अपना मानस बदलकर स्वराज्य का चिंतन शुरू किया। इसलिए 'स्वराज्य संकल्प की पूर्ति के लिए' काका साहब हिमालय से वापिस आ गए।

6. लक्ष्य की खोज

स्वराज्य चिंतन के कारण काका साहब रामकृष्ण मिशन के सम्पर्क में आए। रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानंद से तुरंत संन्यास की दीक्षा लेने की सोची लेकिन उन्होंने तीन साल प्रतीक्षा करने को कहा। अगर विधिवत संन्यास ले लिया होता तो स्त्री और संतान को साथ लेकर रहने की बात भी समाप्त हो जाती।

वे तीन वर्ष कभी पूरे नहीं हुए। अब काका साहब के विचारों में परिवर्तन आ गया था। स्वामी विवेकानंद के प्रति अटूट श्रद्धा थी लेकिन संस्था का स्वरूप और संन्यासियों की भीड़ देखकर उनका विचार बदल गया। उन्हें लगा कि ऐसा करके वे पत्नी और संतान के प्रति न्याय नहीं कर सकेंगे। इसके साथ ही राष्ट्रीय शिक्षा का संकल्प अभी भी उनके मन में जीवंत था।

राष्ट्रीय शिक्षा की दृष्टि से कई बड़े संस्थानों को उन्होंने देखा और उनमें कार्य भी किया। हरिद्वार के ऋषिकुल में उन्होंने छह महीने मुख्य अधिष्ठाता के पद पर कार्य किया। स्वामी श्रद्धानंद के संस्थान गुरुकुल काँगड़ी को देखकर तो वे आश्चर्यचकित रह गए कि वे जनता के सहयोग से ही इतनी बड़ी संस्था को चला रहे हैं।

काका साहब ने राजा महेन्द्र प्रताप का प्रेम महाविद्यालय भी देखा। 'सिंध ब्रह्मचर्याश्रम' में वे छह महीने रहे, इसका संचालन आचार्य कृपलानी, नारायण मलकानी, चोइथराम गिदवानी कर रहे थे। काका साहब ने आचार्य कृपलानी और गिरिधारी कृपलानी के साथ बर्मा (ब्रह्म देश) की यात्रा की तथा एक अज्ञात साधु-वेष में पं. मंदन मोहन मालवीय के साथ विचार-विनिमय भी किया। यहाँ से वे शांति निकेतन भी गए और छह महीने दत्तात्रेय

बाबू के नाम से शिक्षण किया। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने शांति निकेतन में उन्हें स्थायी रूप से जुट जाने के लिए कहा। क्योंकि एण्ड्रयूज ने इनके कार्य का निरीक्षण करके इनके बारे में गुरुदेव को अच्छी राय दी थी।

काका साहब के अनुसार, "गुरुदेव जैसे विश्वविख्यात कवि की ओर से ऐसा आमंत्रण मिलने पर किसको हर्ष नहीं होगा पर मेरे मन में गुरुदेव शिक्षाशास्त्री की हैसियत से सामान्य मनुष्य न लगे। वे प्रभावशाली शिक्षा-शास्त्री हैं, यह तो मैं पहचान सका था।"

सिंध ब्रह्मचर्याश्रम में गांधीजी के साथ सिंधी नेतागण व काका साहब

शांति निकेतन में पढ़ाते समय दक्षिण अफ्रीका से आई हुई गांधीजी के आश्रम की मंडली से उनका परिचय हुआ। बाद में गांधीजी शांति निकेतन में 1915 में दुबारा आए, तब उन्होंने काका साहब से कहा, "मैं आया हूँ, अब अपना आश्रम खोलूँगा। हमारी फिनिक्स पार्टी में आप अच्छी तरह घुलमिल गए हैं। आप मेरे आश्रम में आ सकते हैं।"

जनवरी 1915 में गांधीजी दक्षिण अफ्रीका से भारत आए तो कुछ दिन बम्बई में रहकर शांति निकेतन गए थे। गांधीजी के प्रिय मित्र चार्ली

एण्ड्रयूज ने गांधीजी के आश्रमवासियों, जिन्हें 'फिनिक्स पार्टी' कहते थे, को शांति निकेतन में रखा था। दक्षिण अफ्रीका का गांधीजी का आश्रम जिस स्थान पर था उसका नाम फिनिक्स था। पौराणिक कथा के अनुसार फिनिक्स एक पक्षी है जो वृद्ध होने पर अपनी स्वेच्छा से अग्नि तैयार करके उसमें कूद पड़ता है। इस तरह अग्नि में कूदकर उसके मरने के बाद उसके शरीर के अवशेष से एक नया ही फिनिक्स पक्षी तैयार होता है। काका साहब ने फिनिक्स को नाम दिया था 'अग्नि संभव'। गांधीजी ने भी कई आश्रम स्थापित किए और उनका विसर्जन भी किया।

गांधीजी की पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' भी काका साहब ने पढ़ी, जिसमें सम्पूर्ण जीवन का दर्शन समाया हुआ था। उन्हें लगा कि उनके जीवन की तलाश पूरी हो गई है।

इसलिए उन्होंने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ से कहा, ''आप जानते हैं कि अपना हृदय मैं आपको दे चुका हूँ। आपकी शिक्षा-प्रवृत्तियाँ मुझे अच्छी लगती हैं। आपके साथ काम करने का लगभग मैंने स्वीकार कर लिया है, किंतु अब मेरा मन गांधीजी के प्रति आकर्षित हो रहा है। इसका कारण सरल भाव से कहना चाहता हूँ। बड़ौदा की हमारी संस्था जब बंद हुई तब निराश होकर मैं हिमालय गया, वहीं हमेशा के लिए रह सकता था, किंतु स्वराज्य का संकल्प मुझे वापिस खींच लाया। आपके यहाँ रहने में मुझे हर तरह का संतोष रहेगा, किंतु मैं मानता हूँ कि गांधीजी आपसे जल्दी स्वराज्य ला सकेंगे, इसलिए उनके यहाँ जाने की इच्छा होती है।''

गुरुदेव ने प्रसन्नतापूर्वक काका साहब को जाने की अनुमति प्रदान कर दी। बाद में सुना कि गांधीजी ने स्वयं गुरुदेव से काका साहब की माँग की थी। गुरुदेव ने जवाब दिया था, ''दत्तात्रेय बाबू की सेवा मैं आपको उधार दे सकता हूँ।''

कई साल बाद जब गुरुदेव साबरमती आश्रम में पधारे तो उन्होंने गांधीजी से कहा था, ''मैंने दत्तात्रेय बाबू की सेवा आपको उधार दी थी, वह वापस करने की आपकी इच्छा नहीं दीखती।''

इस पर दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े थे।

शांति निकेतन और गांधी आश्रम के अलावा एक तीसरा आकर्षण भी काका साहब के लिए बहुत जबर्दस्त था।

हिमालय और शांति निकेतन के बाद जब काका साहब गुजरात आए तब बड़ौदा के पास सयाजीपुरा जाकर केशवराव देशपांडे से मिले। उन्होंने इनसे पास रहने तथा ग्रामवासी जनता की सेवा करने का आग्रह किया। हिमालय जाने से पहले काका साहब गंगनाथ विद्यालय में काम कर चुके थे। देशपांडे के क्रांतिकारी विचारों तथा शिक्षा के आग्रह के कारण वे उनके आदमी बन ही चुके थे। देशपांडे दीक्षागुरु भी थे। हिमालय जाने से पूर्व उनसे देवी उपासना की दीक्षा ली थी जिसे काका साहब ने हिमालय के आध्यात्मिक वातावरण में चलाया भी था। केशवराव देशपांडे को वे 'न' नहीं कह सके और वहीं रहने लगे।

उसी साल कांग्रेस के कार्यक्रम में बापूजी बम्बई आए और प्रार्थना-समाज के पास मारवाड़ी विद्यालय में ठहरे थे। काका साहब रोज उनसे मिलने जाते और घण्टों बैठे रहते। एक दिन बापूजी अपने डैस्क पर रखे पत्रों को पढ़ रहे थे, काका थोड़ी दूर पर बैठे थे। तभी महात्माजी के सबसे बड़े पुत्र हरिलाल ने काका साहब से पूछा, "काका साहब, आप शांति निकेतन में हमारी फिनिक्स पार्टी में घुल-मिल गए थे और जब पूज्य बापूजी वहाँ आए तब आप उनके इतने करीब आ गए कि हम सबने माना था कि बापूजी के आश्रम खोलने पर सबसे पहले आप ही उसमें दाखिल हो जाएँगे। कितना आश्चर्य है कि अब तक आप वहाँ नहीं पहुँचे।"

इस पर काका साहब का बड़ा ही स्पष्ट उत्तर था, "आपकी बात बिलकुल सही है, किन्तु हिमालय जाने से पहले जिनके साथ मैं काम करता था वे बैरिस्टर देशपांडे देशसेवा कर रहे हैं, उनको मेरी देशसेवा की आवश्यकता है, इसलिए वहाँ रह रहा हूँ। अब आप ही कहिए कि मैं पुराने बॉस को छोड़कर नया बॉस करने जाऊँ और देशपांडे साहब को नए सेवक ढूँढने पड़ें, यह कुछ ठीक होगा? इसलिए बापूजी के प्रति मेरा चाहे कितना उत्कट आकर्षण हो, मैं केशवराव को छोड़ नहीं सकता।"

बापूजी ने इन दोनों के संवाद सुने और बहुत प्रसन्न हुए और काका साहब से कहा, "काका, तुम्हारी बात सोना-मोहर जैसी है। देश के लिए सब सेवक ऐसी निष्ठा रख सकें तो स्वराज्य दूर नहीं।"

बाद में गांधीजी ने केशवराव से काका साहब की माँग की तो केशवराव ने काका साहब की राय जाननी चाही। काका साहब ने कहा, "इसमें मुझे

सोचने का कुछ है ही नहीं। मैंने तो अपनी सेवा आपके चरणों में समर्पित की है। गांधीजी ने आपको लिखा है, आप जानें और बापूजी जानें।"

केशवराव ने कहा, "इतने महान पुरुष माँग कर रहे हैं और आश्रम में भी राष्ट्रीय शिक्षा का काम है। गंगनाथ में आप करते ही थे। बापूजी
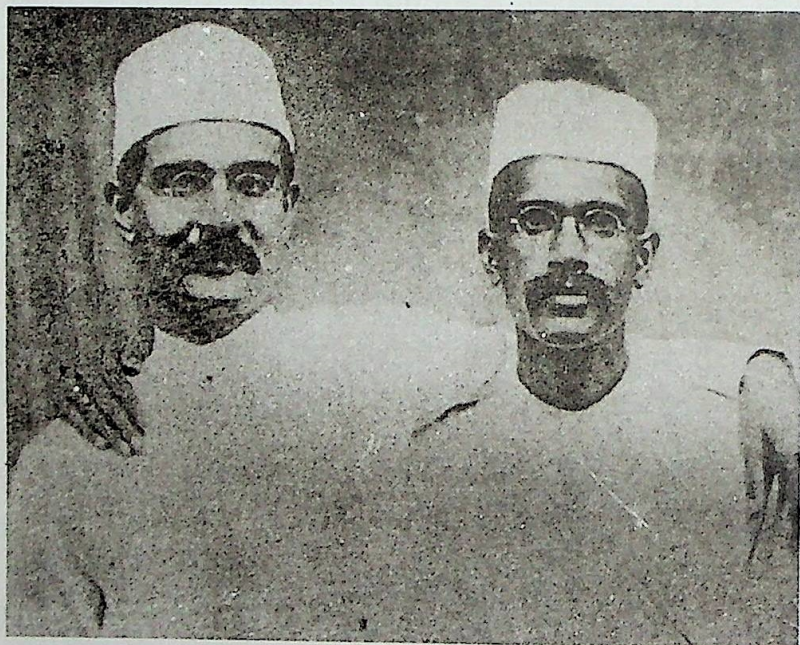
महादेव देसाई के साथ काका साहब

के आश्रम को भी गंगनाथ समझ लीजिए और जैसे वहाँ राष्ट्रीय शिक्षण का कार्य करते थे वैसे वहाँ कीजिए।" फिर एक दिन केशवराव बड़ौदा से अहमदाबाद जाकर काका साहब को बापूजी को सौंप आए।

जब यह बात काका साहब ने महादेव भाई को बताई तब उन्होंने कहा, "पिता जैसे बेटी का कन्यादान करते हैं, उसी तरह आप बापूजी को अर्पित हुए।"

इस तरह काका साहब सदैव के लिए गांधीजी के हो गए। साथ ही उनके लक्ष्य की खोज समाप्त हुई।

7. विवाह एवं जीवनसंगिनी

नर और नारी जीवनरूपी गाड़ी के दो पहियों के समान होते हैं। परस्पर सहयोग और विश्वास से दोनों का जीवन सार्थक और आनंदमय बनता है। काका साहब के संदर्भ में दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि वे विवाह के बाद कुछ समय के लिए हिमालय पर चले गए थे। इस अंतराल में पत्नी (काकी) की मनोदशा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

काश काका साहब हिमालय से वापिस न लौटते तो...? लेकिन अपने स्वराज्य संकल्प के लिए काका साहब जहाज के पंछी की तरह वापिस आए और अपनी अर्द्धांगिनी से उनका पुनर्मिलन हुआ।

एक बहन और छह भाई में काका साहब सबसे छोटे थे। अतः घर के वातावरण से पूर्णरूपेण परिचित थे। जीवन के बारे में समझने के योग्य बनने से पहले दो बड़े भाइयों बाबा और अण्णा के विवाह हो चुके थे। दोनों भाइयों की पत्नियाँ काका साहब की बच्चे जैसी देखभाल करतीं। नहलाना, खिलाना, धमकाना, प्यार करना यानी कि सब तरह की सँभाल करतीं। विष्णु भाई की शादी के समय घोड़े पर बैठकर बारात में जाने का काका को स्मरण था। चौथे भाई केशू की पत्नी रमा तो इनकी उमर की थीं। सब मिलकर खेलते तथा शाम को कहानियाँ कहने और सुनने का आनंद लेते।

उस समय (युग) के अनुसार तथा अन्य सब भाइयों के मुकाबले में काका साहब की शादी कुछ बड़ी यानी 17वें साल की उम्र में हुई। शादी के तुरंत बाद गृहस्थाश्रम प्रारंभ करना संभव नहीं था। एक तो पत्नी की उम्र गृहस्थी के योग्य नहीं थी और दूसरे पारिवारिक बंधन के कारण एक

ही घर में रहते हुए भी पति-पत्नी आपस में बात नहीं कर सकते थे, यहाँ तक कि छुपकर या चोरी से भी नहीं।

काका साहब का विवाह सन् 1902 के जेठ महीने में हुआ। 1903 में उन्होंने मैट्रिक पास किया। और 1904 में कॉलिज में प्रवेश लिया।

बचपन में वे ईश्वरभक्त तथा कर्मशील थे लेकिन पुरानी रूढ़ियों के

काका कालेलकर, शंकर (सतीश), लक्ष्मी कालेलकर, बालकृष्ण

विरोधी थे। काका साहब का मन पत्नी से बात करने को होता था। बड़ों का मान-सम्मान करते थे लेकिन जीवनसंगिनी से बात क्यों न करें, यह बात उनकी समझ में नहीं आती थी।

घर में माता-पिता की सेवा सबसे अधिक काका साहब ही करते थे। शादी के बाद सास-ससुर की सेवा का कार्य अब पत्नी ने सँभाल लिया था। इसके कारण पत्नी से बोलने का सहज मार्ग काका साहब को मिल गया। माँ और घर की दूसरी बहनों की उपस्थिति में पत्नी से सीधे सवाल कुछ इस तरह करते, "स्नान के लिए माँ तैयार हैं, पानी रखा है? माँ के कपड़े तैयार रखे हैं?" पिताजी के कार्यों में भी ऐसे ही सवाल पूछता रहता। घर के बड़े लोग मुझ पर हँसते—गृहस्थाश्रम तो अभी शुरू भी नहीं हुआ और पत्नी के साथ बोलने लगा। बेचारी पत्नी शर्म के मारे पानी-पानी हो जाती। लेकिन जब सबने देखा, सिर्फ माँ-बाप की सेवा के सम्बन्ध में ही प्रश्न पूछता है, सूचना देता है, अन्यथा पत्नी के साथ नहीं बोलता। मातृभक्ति और पितृभक्ति के कारण इतनी हद तक ही पुरानी रूढ़ियाँ इसने तोड़ दी हैं, बाकी संयम में यह किसी से भी कम नहीं है, तब मेरी मजाक एक-दो बार ही हुई सो हुई, फिर तो मेरा हक सबको मान्य हो गया। पत्नी भी बिना कुछ बोले सिर हिलाकर जवाब देती, "सब ठीक है।"

समाज में काका साहब की उम्र के युवक-युवतियाँ उनकी इस हिम्मत के प्रशंसक बन गए। कभी पत्नी से बात करने को जी चाहता तो भाभी को माध्यम बनाते। वे हँसकर कहतीं, "हमसे क्यों कहते हैं? आपकी पत्नी यहाँ खड़ी है, उससे सीधा कहिए।" इस पर काका साहब भी हँस देते।

एक दिन ध्यान में आया कि पत्नी हमेशा कुछ उदास-सी ही दिखाई देती है। इस उदासी का इलाज भी उन्होंने निकाल लिया। एक दिन भोजन के बाद इलायची के दाने कुछ ज्यादा लेकर कमरे की ओर जाते-जाते कुछ दाने पत्नी के हाथ पर भी रख दिए। उसके बाद तो उन्हें लगा कि अब वह खुश रहती है। एक दिन काका साहब आँगन में कुर्सी पर बैठे हुए थे तो पत्नी ने वहाँ से निकलते हुए हिम्मत जुटाकर कह ही दिया, "इलायची के उन दानों ने आपके प्रेम पर मुझे भरोसा दिलाया। अब भले ही जीवन में कितने ही संकट आयें मुझे उनकी परवाह नहीं।" पत्नी का यह पहला वाक्य होने के कारण काका साहब को हमेशा याद रहा।

काका साहब की पत्नी का यह वाक्य भविष्य में घटित घटनाओं के आधार पर उनके चरित्र को पूरी तरह प्रमाणित भी करता है। काका साहब का लक्ष्य की तलाश में भटकना, कई बार जेल जाना, सब-कुछ पत्नी ने धैर्यपूर्वक सहा।

आश्रम में काका साहब के साथ जाने के बाद उनकी पत्नी भी 'काकी' के नाम से संबोधित की जाने लगीं और सच में ही वे सबकी काकी बन गईं।

काकी के स्वतंत्र विचारों की बापूजी भी बहुत कद्र करते थे। काकी गुजराती समझ सकती थीं लेकिन बोल नहीं पाती थीं। महादेव भाई और गांधीजी अपनी बात समझाने के लिए काकी के साथ खूब चर्चा करते थे। काकी के केवल मराठी भाषा-ज्ञान के कारण गांधीजी महादेव भाई को माध्यम बनाते थे।

एक बार बापूजी ने आश्रम के पुरुषों को आश्रम के रसोईघर में सहयोग देने के लिए कहा तो काकी का कहना था, "ऐसा करने में बापूजी ने स्त्री जाति की मानो 'दुश्मनी' की है।" महादेव भाई द्वारा यह बात गांधीजी तक पहुँचा दी गई। बापूजी अपनी बात विस्तारपूर्वक समझाने के लिए महादेव भाई को साथ लेकर स्वयं काकी के पास आए।

काकी की देशभक्ति—ऐसा ही एक और महत्वपूर्ण प्रसंग गांधीजी और काकी के बीच का है। दक्षिण अफ्रीका से सदा के लिए भारत लौटकर भारत के सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भूमिका निभाने तथा गुजरात में अपना आश्रम स्थापित करने का गांधीजी ने निर्णय लिया था। ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ जरूरत पड़ने पर गांधीजी लड़ते अवश्य थे लेकिन तब उनके मन में विश्वास था कि कुल मिलाकर ब्रिटिश साम्राज्य भारत का अहित नहीं करेगा।

उन्हीं दिनों ब्रिटिश साम्राज्य और जर्मनी के बीच लड़ाई शुरू हो गई। उस युद्ध के लिए अंग्रेज भारत की सहायता चाहते थे। इसलिए ब्रिटिश वायसराय ने गांधीजी सहित देश के नेताओं को दिल्ली बुलाया। अंग्रेजों की ओर से लड़ने के लिए देश के नवयुवकों को रंगरूट भरती करने की गांधीजी ने स्वीकृति दे दी। यद्यपि गांधीजी जानते थे कि जर्मनों के विरुद्ध अंग्रेजों के पक्ष में लड़ने के लिए भारतीय आसानी से तैयार नहीं होंगे।

गांधीजी का विचार था कि ''इस वक्त यदि हम अंग्रेजों की मदद करेंगे तो उनका हमारे प्रति जो अविश्वास है सो दूर हो जाएगा। साम्राज्य में हमारी प्रतिष्ठा बढ़ेगी और स्वराज्य प्राप्ति के लिए यह एक उत्तम कदम होगा।''

गांधीजी की बातें सुनकर काका साहब ने कहा, ''आप देश के याने हम सबके नेता हैं। हमारी ओर से आप वचन दे चुके हैं। उस वचन का पालन करना हमारा धर्म है। मैं फौज में दाखिल होने को तैयार हूँ। यूरोप के युद्ध में हिस्सा अवश्य लूँगा।''

गांधीजी ने काका साहब, नरहरि भाई पारीख और पृथु शुक्ल (युवा कवि) तीन के नाम सरकार के पास भेज दिए और वल्लभभाई पटेल को लेकर गुजरात में रंगरूट भरती करने के लिए घूमने लगे।

जिस दिन फौज में भरती होने की काका साहब ने स्वीकृति दी, उस दिन की बात सुनते ही काकी तो गुस्से से आग-बबूला हो गईं।

इस पर काकी को समझाने बापूजी आए तो काकी ने गांधीजी के सामने अपनी भूमिका कुछ इस प्रकार रखी, ''बापूजी, आप ऐसा न मानें कि मैं कायर हूँ। मेरा नाम लक्ष्मी है। झाँसी की रानी का चरित्र मैंने पढ़ा है। जब से काका साहब कॉलिज के दिनों में अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यंत्र में शामिल हुए थे तब से मैं समझ गयी हूँ कि एक-न-एक दिन वे पकड़े जाएँगे और उन्हें फाँसी की सजा हो सकती है और मुझे विधवा का जीवन व्यतीत करना होगा। इसके लिए मैंने अपना मन तैयार कर रखा है। कल यदि आप अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध जाहिर करेंगे तो मैं काका साहब को लड़ने जरूर भेजूँगी। इतना ही नहीं, किंतु मेरे दो बेटे यदि अंग्रेजों के खिलाफ लड़ते-लड़ते प्राण खो देंगे तब भी मैं नहीं रोऊँगी। अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने को अपने बेटों को मैं हमेशा तैयार रखूँगी।''....''किंतु जिन अंग्रेजों का राज तोड़ने का काका साहब ने निश्चय किया है, उनके ही पक्ष में जर्मनों के सामने लड़ने के लिए काका साहब को भेज रहे हैं, उसमें मेरी सम्मति कभी भी मिलने वाली नहीं है। 'अंग्रेजों के पक्ष में काका साहब लड़ रहे हैं।' ये शब्द भी कैसे असह्य लगते हैं।''

बापूजी का जवाब या उनकी कोई बात सुनने को काकी तैयार नहीं थीं, अतः बात वहीं समाप्त हो गयी।

काका साहब को जेल में क्षय रोग (टीबी) हो गया था। तबीयत सुधरने पर जेल से बाहर आए। ग्यारह महीनों का काका साहब का वियोग काकी ने बड़ी हिम्मत से सहन किया।

काकी भी अस्वस्थ हो गयीं। डॉ. तलवलकर के विशेष ध्यान और उपचार के बाद भी काकी की तबीयत में कोई सुधार नहीं हो रहा था। तब लाचार होकर काका साहब कांकी को उनके मायके छोड़ आए।

वहाँ उनकी तबीयत में कुछ सुधार हुआ लेकिन फिर से बीमारी ने ज्यादा जोर पकड़ लिया। काकी पुनः आश्रम में आकर रहने लगीं। सन् 1929 में साबरमती आश्रम में ही काकी का देहावसान 40 वर्ष की आयु में ही हो गया। उनके दोनों पुत्र सतीश और बाल भी तब वहीं थे।

साबरमती नदी के किनारे उनका देह अग्नि को समर्पित कर दिया गया। उनकी केवल स्मृति शेष रह गयी।

काका साहब ने लिखा है, "मेरे आश्रम जीवन के साथ पूर्ण रूप से एक होकर काकी ने मुझे और मेरे साथियों को संतोष दिया था। किन्तु आश्रम जीवन उसका स्वयं का आदर्श नहीं था, इसलिए मैं अनेक बार मायके जाने देता। उसकी माँ के प्रति सारे समाज का आदर था। मेरे मन में भी उनके प्रति पूज्य भाव था।"

8. आश्रम और गांधीजी से एकाकार

10 अप्रैल, 1917 के दिन चम्पारण जाते हुए बड़ौदा स्टेशन पर बापूजी और काका साहब की भेंट हो गयी। गांधीजी ने काका साहब से कहा, "अभी-अभी मैंने आश्रम खोला है। इसलिए मुझे सारा समय आश्रम को देना चाहिए था, किन्तु सेवाकार्य के लिए बाहर से निमंत्रण आते हैं। उनको मना कैसे करूँ! इसलिए मैं चम्पारण जा रहा हूँ। आप अनुभवी हैं। शांति निकेतन में आश्रमवासियों के साथ आप ठीक-ठीक मिल-जुल गए, इसलिए आप पूरे घर के ही हैं। आप यदि आश्रम में जाकर रहें तो मैं निश्चिंत रहूँगा।"

काका साहब मान गए। वे आश्रम और गांधीजी दोनों के हो गए।

आश्रम की जीवन-पद्धति बिलकुल अलग तरह की थी। सब लोग सभी काम अपने हाथ से ही करते थे। काका साहब ने भी आश्रम के कामों में रस लेना शुरू कर दिया और अपनी सूझ-बूझ और चातुर्य से नए-नए प्रयोग करने लगे। विशेषकर शौचालय की और उसके आसपास की सफाई करते तथा रसोई में अपना पूरा सहयोग देते। खाना परोसने और बर्तन माँजने में अन्य लोगों की अपेक्षा काका साहब का उत्साह कुछ अधिक ही रहता।

एक दिन प्रार्थना के बाद काका साहब ने घोषणा की, "आज से बर्तन माँजने की व्यवस्था को नाम दिया जाता है—'मार्जन मंडल'। जब बर्तन माँजे जाएँगे तब शिक्षकों में से हम बारी-बारी से, किसी अच्छी पुस्तक में से कुछ रोचक चीजें सुनाते जाएँगे और यदि इसमें से चर्चा छिड़ जाय तो माँजने वाले उस चर्चा में शामिल हो सकेंगे।...कोई भाई-बहन जोश में आकर दलील करेंगे तो उसी जोश से बर्तन भी साफ होते रहेंगे, इसलिए इसमें

फायदा ही है।''

काका साहब द्वारा यह प्रयोग शांति निकेतन में किया जा चुका था। अतः उसके लाभ की उन्हें जानकारी थी।

काका साहब ने 'मार्जन मंडल' की सफलता के बारे में लिखा है, ''फिर तो पूछना ही क्या था। नरहरि भाई, किशोरलाल भाई, देवदास इत्यादि सभी चर्चा में भाग लेने लगे। जिनकी बारी नहीं थी, वैसे लोग भी माँग-माँगकर बर्तन लेकर बैठ जाते। चर्चा करते जाते और राख या मिट्टी लेकर बर्तन माँजते जाते, धोते जाते। सत्याग्रहियों के लिए चर्चा के विषय कभी कम नहीं पड़ते। 'मार्जन मंडल' का काम पूरे वेग से चला।''

आश्रम में काका साहब को संस्कृत पढ़ाने का काम मिला था। देवदास

गांधी आश्रम के साथी विनोबा भावे के साथ काका साहब

और रामदास उसमें विशेष रुचि लेते थे जबकि मणिलाल गांधी और काका साहब प्रार्थना में अधिक रस लेते थे।

उन दिनों आश्रम कोचरब में दो किराये के मकानों में चलता था। सामने के रास्ते के उस पार से एक कुएँ से पानी निकालकर लाना पड़ता

था जिसमें सभी आश्रमवासी एक निश्चित समय पर पानी भरने के काम में जुट जाते। पानी भरने के कार्य में गांधीजी भी व्यक्तिगत रूप से सहयोग देते थे। आश्रम में काका साहब के साथ किशोरलाल भाई, नरहरि भाई, विनोबा, अप्पा साहब पटवर्धन, जुगतराम दवे और मगनलाल भाई जैसे योग्य शिक्षक थे। गांधीजी का वरदहस्त तो सभी आश्रमवासियों पर रहता ही था। काका साहब वर्षों तक जिसकी तलाश में उत्तर भारत में भटकते रहे, आश्रम में उनकी रुचि का काम उन्हें मिल गया।

बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न और मौलिक चिंतक काका साहब अब गांधीजी से एकाकार हो गए। अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को गांधीजी में समाहित कर दिया। काका साहब काका न रहकर गांधीजी के अंग बन गए।

प्राचीन इतिहास, संस्कृति और दर्शन में विशेष रुचि रखने वाले काका साहब ने राजनीति, अर्थनीति और खगोल जैसे विषयों को भी अपने शिक्षण का विषय बनाकर विद्यार्थियों को शिक्षित करने का पूरा प्रयत्न किया।

स्वदेशी का आरंभ यद्यपि महाराष्ट्र, बंगाल तथा आर्यसमाज से प्रभावित देश के कई भागों में पहले ही हो चुका था, लेकिन गांधीजी ने उसके शुद्ध स्वरूप का सार्थक प्रयोग किया और उसका महत्व स्थापित करने में काका साहब ने प्रभावी भूमिका निभाई।

आश्रम जीवन तपस्या और संघर्ष का जीवन था। काका साहब हर क्षेत्र में खरे उतरे। काका साहब के आश्रम प्रवेश का एक रोचक प्रसंग बड़ा प्रेरणादायी है। प्रारंभ में श्री ठक्कर बापा की सलाह पर गांधीजी ने एक हरिजन परिवार को आश्रम में रख लिया। इस परिवार के मुखिया दूधाबाई की पत्नी दानी बहन रसोई में खाना पकाने में सहयोग करने लगी तो आश्रम में खलबली मच गई। आश्रम छोड़कर कई परिवार चले गए। यहाँ तक कि श्रीमती कस्तूरबा गांधी ने भी हरिजन बहन दानी के हाथ का पकाया हुआ खाना खाने से इन्कार कर दिया। इस परिस्थिति में गांधीजी द्वारा निमंत्रण पाकर काका साहब सपरिवार आश्रम में रहने को आए। गांधीजी बहुत प्रसन्न हुए।

आश्रम के पवित्र वातावरण में वहाँ के नियमों का पालन करते हुए सबको जीवन जीने की पूरी आजादी थी। फिर भी कुछ परिवार छुआछूत के कारण नहीं अपितु परिश्रम के डर से आश्रम को अलविदा कह गए।

कुछ व्यक्ति सेवा ले तो सकते हैं, कर नहीं सकते। काका साहब सेवा करने वालों में थे।

काका साहब के सेवाभाव का एक अन्य उदाहरण अत्यन्त अनुकरणीय है। एक बार एक अतिथि आश्रम से बाहर जा रहे थे। उनके पास लोहे का एक बड़ा ट्रंक था। जिसे वह स्वयं उठा ले जाने में सक्षम नहीं थे। ताँगा मिल नहीं रहा था। गांधीजी ने काका साहब से कहा, ''काका, इनका ट्रंक उठाकर एलिस ब्रिज तक ले जाओ। वहाँ ताँगा मिल जाएगा।''

काका साहब गांधीजी के आदेश का पालन करते हुए ट्रंक को पीठ पर लादकर ब्रिज तक लेकर गए। इससे थोड़ी कमर की चमड़ी उतर गयी और कमीज फट गयी थी। वैसलीन और आयोडीन लगाने पर चार दिन में कमर ठीक हुई।

काका साहब का व्यक्तित्व ऐसा था कि वह परिश्रम और सेवा से जी नहीं चुराते थे। लेकिन आत्मा का दमन भी उन्हें स्वीकार नहीं था। आश्रम में खाना तो मिलता था परन्तु घी-दूध प्रयोग करने की मनाही थी। काका साहब ने गांधीजी से कहा, ''आश्रम के अनेक नियम मुझे पसंद हैं पर घी-दूध और मक्खन छोड़ने को जी नहीं चाहता। आश्रम में ये चीजें नहीं खाऊँगा पर बाहर लेने की इच्छा है, अगर आप अनुमति दें तो...''

गांधीजी ने भी काका साहब की इच्छा का सम्मान करते हुए अनुमति दे दी।

9. गुजरात विद्यापीठ—जीवन का आधार

गुजरात विद्यापीठ काका साहब की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। विद्यापीठ को दी गई सेवाएँ उनका जीवनाधार सिद्ध हुईं। काका साहब के मन में भी सबसे अधिक महत्व गुजरात विद्यापीठ का ही था।

देश में उस समय ऐसे भी लोग थे जिनके मन में अंग्रेज सरकार द्वारा चलाए जा रहे विश्वविद्यालयों की शिक्षा पद्धति के प्रति असंतोष था। यद्यपि वे अंग्रेजी राज्य के विरोधी नहीं थे। उनकी प्रबल इच्छा थी कि देश की आवश्यकता तथा संस्कृति के अनुसार सारे देश में राष्ट्रीय शिक्षण का स्वतंत्र तंत्र स्थापित किया जाए।

देश के अनेक सुधारक दलों और धार्मिक संस्थानों ने अपने-अपने विश्वविद्यालय स्थापित किए थे। आर्यसमाज ने वैदिक धर्म और संस्कृति को फिर से जाग्रत करने के लिए गुरुकुल और डी. ए. वी. कॉलिज (दयानंद एंग्लो वैदिक) बनाए। मुस्लिमों ने इस्लाम संस्कृति को महत्व देने वाली नई शिक्षण पद्धति के लिए अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना की। इसी क्रम में हिन्दू संस्कृति को ध्यान में रखते हुए शिक्षा को देशव्यापी बनाने हेतु पंडित मदन मोहन मालवीय ने हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की लेकिन अंग्रेजों के हस्तक्षेप के कारण उसको स्थानिक रूप देकर 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय' नाम दिया गया।

भारत के सार्वजनिक जीवन तथा सरकारी तंत्र में बंगाली लोगों के महत्व को अंग्रेज सरकार ने अपने लिए खतरा समझा। बंगाल के दो टुकड़े कर दिए गए। बंगाल तथा सारे देश की जनता ने बंग-भंग के खिलाफ जबरदस्त आंदोलन चलाया। उस समय सारे देश में स्वराज्य के आंदोलन के लिए असाधारण जनजागृति देखने को मिली।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के प्रयत्न और प्रेरणा से पुणे और बम्बई के बीच तलेगाँव में समर्थ-विद्यालय की स्थापना की गई। सुबोधचन्द्र मलिक, विपिनचन्द्र पाल तथा अरविंद घोष आदि बंगाली नेताओं ने बंगाल नेशनल कौंसिल ऑफ एजूकेशन की स्थापना की।

इसी प्रकार मैसूर राज्य और पंजाब में सिखों द्वारा तथा अन्य स्थानों पर शुद्ध राष्ट्रीय दृष्टि से सभी धर्मों का आदर करते हुए भारतीय संस्कृति की पोषक राष्ट्रीय शिक्षा के अनेक प्रयोग किए गए।

"केवल कांग्रेस को ही नहीं, किंतु शुद्ध स्वातन्त्र्य प्राप्त करने की दृष्टि से अंग्रेजी राज्य तोड़ने के लिए सारे देश को तैयार रहना चाहिए। ऐसी तैयारी करने वाला शिक्षण ही सच्चा राष्ट्रीय शिक्षण है।" ऐसा मानने वाली विशाल प्रवृत्ति के पक्ष में से ही काका साहब ने अपने सार्वजनिक जीवन का प्रारंभ किया था। इसलिए बेलगाम तथा बाद में बड़ौदा में काका साहब ने राष्ट्रीय शिक्षा की संस्थाओं में प्रवेश करके अपने विचारों को परखने तथा सुदृढ़ करने के प्रयोग किए।

इन संस्थाओं में क्रांतिकारी विचारों के शिक्षकों को ही लेना तथा विद्यार्थियों में तेजस्वी विचारों को उत्पन्न करना, साथ ही अंग्रेजों की दमनकारी नीति से सुरक्षित रखना इनकी कार्य-पद्धति की विशेषता थी।

आश्रम में भी काका साहब शाला और शिक्षण से जुड़े थे। आश्रम में आने के दो वर्ष बाद स्वाधीनता-संग्राम का बिगुल बज गया और गांधीजी की अंग्रेजों के साथ असहयोग की नीति को स्वीकार कर लिया गया।

सन् 1920 के अगस्त के अंत में अहमदाबाद में चौथी गुजरात राज्य परिषद के अधिवेशन में राष्ट्रीय शिक्षण के बारे में एक प्रस्ताव पारित किया गया था। इस अधिवेशन की अध्यक्षता अब्बास तैयबजी ने की थी। इसमें सरकारी स्कूलों और कॉलिजों का बहिष्कार करने, गांधीजी के असहयोग के कार्यक्रम को स्वीकार करने तथा एक स्वतंत्र विश्वविद्यालय स्थापित करने का निर्णय लिया गया।

निश्चय किया गया कि गुजरात में एक राष्ट्रीय विद्यापीठ की स्थापना की जाएगी। इसके लिए बारह सदस्यों की एक राष्ट्रीय शिक्षा समिति नियुक्त की गई, जिसमें तीन सदस्य आश्रम के भी थे।

सर्वसम्मति से प्रस्ताव पास हो जाने के बाद सभी लोग इसे सफल

बनाने के काम में जुट गए। काका साहब और किशोरलाल भाई सारे गुजरात में घूमकर यह समझाते रहे कि विद्यापीठ की स्थापना का मुख्य उद्देश्य क्या है, किस नीति को हमें अपनाना है और कैसे उसे संकीर्णता से बचाए रखना है।

काका साहब ने 'नवजीवन' और 'यंग इण्डिया' में लेख लिखकर लोगों को चेतावनी भी दी कि जिस राष्ट्र में अपने वर्तमान से ऊपर उठकर भविष्य को देखने की दृष्टि नहीं होती उसका विनाश निश्चित है।

गुजरात विद्यापीठ की पहली प्रवृत्ति के रूप में गांधीजी ने 15 नवम्बर, 1920 सोमवार के दिन गुजरात महाविद्यालय की नींव रखी। इसके कार्य को सुचारु ढंग से चलाने के लिए आश्रम और शाला से काका कालेलकर, पटवर्धन, विनोबा तथा नरहरि भाई आदि अपना कुछ न कुछ समय देकर सहयोग करने लगे।

अपनी तरह के इस प्रथम महाविद्यालय में भारत की अनेक शिक्षा संस्थाओं से असहयोग करने वाले विद्यार्थी इसमें प्रवेश करने लगे। उत्साह और उल्लासपूर्ण वातावरण में राष्ट्रीय शिक्षा भावना और देश के प्रति त्याग वृत्ति के कारण शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच सामंती वर्जनाओं से मुक्त विशेष आत्मीय संबंध बन गए थे।

एक बात और स्पष्ट हुई कि गुजरात विद्यापीठ सारे देश की जब एकमात्र संस्था है तो उसका स्वरूप भी अखिल भारतीय होना चाहिए। गांधीजी के सिद्धांतों के अनुसार अखिल भारतीय संस्था गुजरात विद्यापीठ की सारी शिक्षा हिन्दी में होनी चाहिए। इस नीति को सभी नेताओं ने मान्य किया। लेकिन काका साहब ने इसका विरोध किया। काका साहब का तर्क था कि ''गुजरात विद्यापीठ के शिक्षा विषयक आदर्श अखिल भारतीय हैं, किंतु गुजरात विद्यापीठ विशाल गुजरात की ही सेवा करेगी।...सारे देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हो सकती है, इसलिए सारे गुजरात विद्यापीठ के तंत्र में नीचे से ऊपर तक द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी के लिए उचित आदर का स्थान रहेगा। किन्तु गुजरात विद्यापीठ की शिक्षा का वाहन तो नीचे से लेकर शिखर तक गुजराती ही रहेगा।'' ''...इस नीति में मैं अडिग रहा। मेरे विरुद्ध प्रचण्ड बहुमत होते हुए भी मैंने एक न सुनी। लोग अकुलाए, लेकिन करतें क्या? प्रस्ताव राजकीय परिषद के हों, या किसी भी संस्था

के हों, अमल में लाने वाले तो हम ही थे। लोग गांधीजी के पास गए। उन्होंने कह दिया, 'काका का आग्रह उचित है।' तब सारा वातावरण मेरे अनुकूल हुआ।'' स्वयं मराठी होते हुए भी गुजरात में गुजराती की महत्ता पहचानकर उन्होंने गुजराती का समर्थन किया।

काका साहब पढ़ाने के लिए सौंपे गए अर्थशास्त्र विषय के अलावा अंग्रेजी, प्राचीन इतिहास, धर्मशास्त्र आदि विषय भी विद्यापीठ में पढ़ाते थे। प्रार्थना-स्थल पर उनके मार्मिक प्रवचन बहुत लोकप्रिय होते थे।

विद्यापीठ में अंग्रेजी भाषा भी रहेगी, इसलिए काका साहब के सुझाव पर गांधीजी ने रामजस कॉलिज के अवकाश प्राप्त प्राचार्य श्री असूदमल गिदवानी की नियुक्ति विद्यापीठ में प्राचार्य पद पर की। लेकिन काका साहब का इनसे आगे चलकर बहुत संघर्ष हुआ जिससे परेशान काका साहब ने विद्यापीठ से अलग होना ही उचित समझा। उन्होंने बापूजी से कहा, ''मेरा मुख्य काम आश्रम में है। गुजरात की जनता ने मेरी सेवा माँगी इसलिए गुजरात विद्यापीठ की स्थापना में योग दिया। अब यह काम मेरे बिना अच्छी तरह चल सकेगा इसलिए मुझे आश्रम की शाला में आने की अनुमति दीजिए।''

गांधीजी ने काका साहब के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

विद्यापीठ छोड़ने के बाद भी अनेक शिक्षक और विद्यार्थी मार्गदर्शन के लिए उनके पास आते रहते थे। वह अनेक सभा-समितियों के सदस्य थे। वह गुजरात के विद्यार्थियों के हिंतैषी और सलाहकार बन गए थे। काका साहब की रचनाएँ असंख्य लोगों को प्रेरणा प्रदान करती थीं। मराठी मातृभाषी काका साहब गुजराती भाषा के उत्कृष्ट लेखक और गुजराती भाषा के माध्यम से गुजरातवासियों के 'आपन जन' बन गए थे।

बाद में प्राचार्य गिदवानी से सरदार वल्लभभाई पटेल भी प्रसन्न न रह सके। अतः काका साहब के परम मित्र आचार्य कृपलानी की विद्यापीठ में सेवाएँ ली गईं। आचार्य कृपलानी और गिदवानीजी में भी सामंजस्य स्थापित न होने के कारण आखिर गिदवानीजी को विद्यापीठ से विदा होना पड़ा।

विद्यापीठ में काका साहब को पुनः निमंत्रण मिला। लेकिन काका साहब को उस समय क्षय रोग हो गया था।

जब गांधीजी ने विद्यापीठ की पुनर्रचना की तब सन् 1928 में विद्यापीठ का काम काका साहब को सौंपा।

विद्यापीठ की जिम्मेदारी लेने के बाद काका साहब ने बापूजी से कहा, "आप कुलपति हैं, मुझे कुलनायक नियुक्त करते हैं तो मैं आपको वचन देता हूँ कि छोटी से छोटी बारीकियाँ मैं आपको बताता रहूँगा। जो भी कदम उठाना हो, उसकी जानकारी आपको पहले से देकर आपकी सलाह के अनुसार ही काम करूँगा। किंतु विद्यापीठ के काम के संबंध में किसी को भी आपके पास आकर बात नहीं करनी चाहिए। सब अधिकार मेरा है।" बापूजी ने काका साहब की बात मान ली।

उस समय बापूजी ने काका साहब को 'सवाई गुजराती' की अत्यंत प्रिय उपाधि से भी विभूषित किया।

गुजरात विद्यापीठ में महात्मा गांधी कुलपति, काका कालेलकर उपकुलपति

काका साहब ने विद्यापीठ की स्थापना के समय साथियों की माँग पर 'सा विद्या या विमुक्तये' ध्यानमंत्र (मोटो) दिया। महात्मा गांधीजी को भी यह मोटो बहुत पसंद आया। बाद में अनेक संस्थाओं ने इस 'मोटो'

को अपना लिया। गुजरात विद्यापीठ और उससे जुड़े शिक्षाविदों का तो यह जीवन-सूत्र बन गया।

काका साहब का मानना था कि गुजरात विद्यापीठ का विकास और उसकी सर्वांगीण जनसेवा ही उनके जीवन का सर्वश्रेष्ठ कार्य माना जाएगा। इसके डेढ़ वर्ष के अंदर ही गांधीजी ने स्वराज्य की अंतिम लड़ाई शुरू की। काका साहब ने गांधीजी की इस महान संस्था को 'स्वराज्य युद्ध की एक छावनी' में परिवर्तित कर दिया।

गांधी-इरविन समझौता होने के बाद युद्धविराम हो गया। काका साहब ने विद्यापीठ में सुराज्य विद्यालय प्रारंभ किया। उनका उद्देश्य समाज के सैनिकों को युद्ध का अंत न मानकर नए युद्ध की तैयारी करने की प्रेरणा देना था। संघर्ष लम्बा चला। गोलमेज कांफ्रेंस की असफलता के बाद गांधीजी के लौटने पर लार्ड विलिंगडन ने दमनचक्र चलाकर राष्ट्र-निर्माण की सभी प्रवृत्तियों को समाप्त कर दिया। विद्यापीठ भी उससे प्रभावित हुआ।

काका साहब को लग रहा था कि उन्हें संस्थागत जीवन समाप्त करके भारतव्यापी कार्ययोजना पर कार्य करना चाहिए। उन्हें विद्यापीठ में अपना काम समाप्त दिखाई देने लगा था। उन्होंने महाभारत का अध्ययन किया। दो पुस्तकें लिखीं। 'जीवननो आनंद' में प्रकृति का मनमोहक वर्णन है। दूसरी पुस्तक 'हिण्डलग्याचा प्रसाद' में ग्राम जीवन के नवनिर्माण का सजीव चित्रण है।

काका साहब के हृदय में सृजनात्मकता और रचनात्मकता का अद्भुत संगम था—कारण था कविगुरु रवीन्द्रनाथ और महात्मा गांधी दोनों का उनके हृदय में रच-बस जाना।

गोरी सरकार ने 'बाँटो और शासन करो' की नीति के अनुसार प्रजा को कुछ अधिकार देते हुए 'साम्प्रदायिक निर्णय' की घोषणा की जिसके अनुसार अछूतों को हिन्दुओं से अलग अस्तित्व के रूप में माना गया था। गांधीजी ने इस योजना को अस्वीकार कर 20 सितंबर को आमरण अनशंन शुरू कर दिया। सरकार और जनता दोनों हतप्रभ थे। हिन्दुओं और हरिजन नेता डॉ. अम्बेडकर ने गांधीजी के प्राण बचाने के लिए समझौता कर लिया। गांधीजी ने अछूत शब्द को अमान्य कर नया नाम दिया 'हरिजन'।

गांधीजी ने सत्याग्रह आश्रम को विसर्जित करने का निर्णय लिया।

काका साहब से इस समय एक चूक हुई, यद्यपि उनका उद्देश्य शुभ था। उन्होंने गांधीजी को सुझाव दिया कि विद्यापीठ का ग्रंथालय नगरपालिका को सौंप दिया जाए। लेकिन काका साहब को यह निर्णय लेने का अधिकार नहीं था। यह अधिकार न्यासधारियों का था। परिणामस्वरूप सत्याग्रह बंद हो जाने के बाद न्यास-मंडल ने नगरपालिका से अपना ग्रंथालय वापिस ले लिया। यह एक दुखद प्रसंग था। इसके पश्चात् तो अवसाद के कारण काका साहब न तो विद्यापीठ में रहे और न गुजरात में ही।

10. संपादक और लेखक

सन् 1922 में गांधीजी को छह वर्षों के लिए जेल में बंद किए जाने पर स्वामी आनंद 'नवजीवन' के सम्पादक बने। लेकिन उनके भी जेल चले जाने पर 'नवजीवन' का कार्यभार काका साहब को सँभालना पड़ा। 'नवजीवन' में काका साहब का पहला लेख 4 जून, सन् 1922 को प्रकाशित

'नवजीवन' में काका साहब

हुआ। फिर तो फरवरी 1923 तक नवजीवन में उनके लेखों का प्रकाशन लगातार होता रहा।

काका साहब का नवजीवन से जुड़ना और गुजराती के लेखक बनना बहुत ही रोचक और अनोखे प्रसंग हैं। अफ्रीका से वापिस आने के बाद गांधीजी ने 'यंग इण्डिया' नामक अखबार अंग्रेजी में निकाला था। अखबार के संबंध में गांधीजी के दो सिद्धांत थे। एक तो यह था कि पुराना अखबार अपनाकर उसे चलाना चाहिए जिससे नए पाठक खोजने का झंझट न रहे। उनका दूसरा सिद्धांत था कि विज्ञापन की आय से अखबार नहीं चलाया जाना चाहिए।

काका साहब गांधीजी की दूसरी नीति से सहमत थे। उन्होंने इस संदर्भ में आलोचकों को कुछ इस तरह जवाब दिया, "समाज में धर्म, नीति, सदाचार, संस्कारिता, कला-विलास आदि का समावेश करने के लिए एक मंदिर बनाया गया। मंदिर द्वारा इन सब कामों को उत्तम प्रोत्साहन दिया जाने लगा। उसका खर्च पूरा करने के लिए मंदिर के आसपास दुकानें बनाई गईं और इन दुकानों में अश्लील साहित्य बिकने लगा और आसपास भ्रष्टाचार फैला। विज्ञापन की आय से अखबार चलाने की बात भी वैसी ही है।"

इन शब्दों में काका साहब की सत्य मार्ग पर चलने की दृढ़ इच्छाशक्ति की झलक मिलती है।

इसके बाद सरकार और अंग्रेज अधिकारियों तक अपनी बात पहुँचाने के लिए अंग्रेजी अखबार चलाने की ओर ध्यान गया परंतु नब्बे प्रतिशत जनता की उपेक्षा करना न्यायोचित नहीं माना गया। अतः गांधीजी ने एक गुजराती साप्ताहिक निकालने का निर्णय किया। इसके लिए किसी पुराने अखबार की तलाश हुई। 'नवजीवन और सत्य' नाम से कभी एक मासिक प्रकाशित होता था। जिसे उसके मालिकों ने गांधीजी को सौंप दिया।

गांधीजी ने उसको नाम दिया 'नवजीवन' और प्रकाशन अवधि मासिक से घटाकर 'साप्ताहिक' कर दी। श्री शंकरलाल बैंकर ने प्रेस खरीदकर उसमें अखबार छापना शुरू कर दिया जिसकी व्यवस्था का भार काका साहब के पुराने मित्र स्वामी आनन्द ने सँभाला।

अखबार में सामग्री की कमी होने पर आनन्द काका साहब से लिखने के लिए आग्रह करते। काका साहब गांधी विचार और नीति के तो अच्छे

ज्ञाता थे लेकिन गुजराती भाषा के नहीं थे। काका साहब टूटी-फूटी गुजराती में बोलते जाते और आनन्दजी उत्तम-उत्तम शब्दों का प्रयोग करके लिखते जाते। एक अद्भुत संयोग था कि विचार काका साहब के और भाषा स्वामी आनंद की। धीरे-धीरे काका साहब गुजराती भाषा में लिखने में भी सिद्धहस्त हो गए। इस तरह उन्हें गुजराती का लेखक बनाने का पूरा श्रेय उनके मित्र स्वामी आनन्द को है।
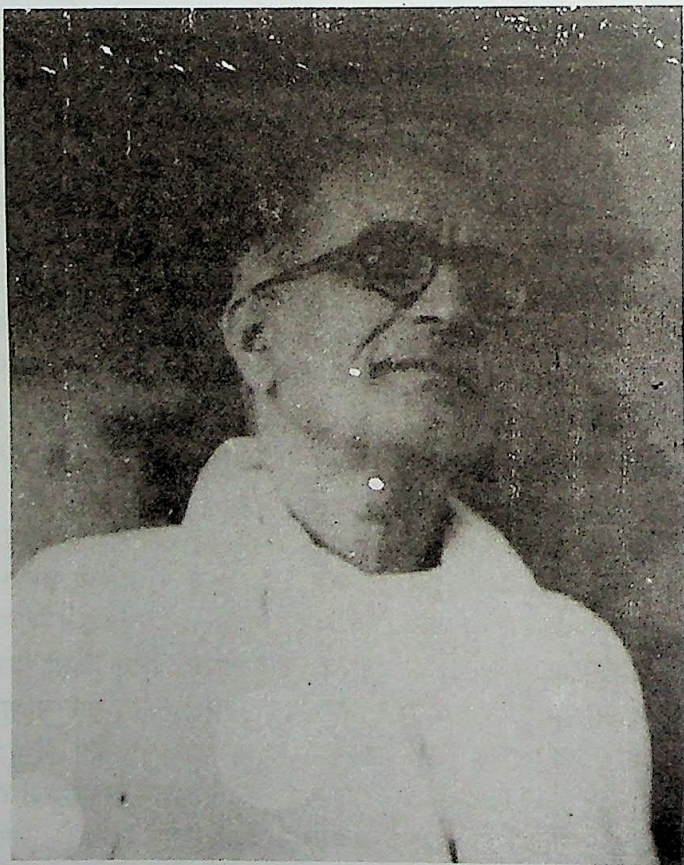
अब जीवनधारा को नई दिशा दें—30.2.1951 काका साहब

काका साहब की रचनाएँ गुजराती में छपने लगी थीं लेकिन स्वतंत्र रूप से प्रथम रचना सन् 1920 में प्रकाशित हुई। उस वर्ष गुजराती साहित्य

परिषद् के अहमदाबाद अधिवेशन में कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर मुख्य अतिथि के रूप में पधारे थे। तब काका साहब ने उनसे संदर्भित एक लेख गुजराती में लिखा था। काका साहब के शब्दों में, ''यही था मेरी कलम से लिखा हुआ सर्वप्रथम गुजराती लेख। इससे पहले मैं मराठी में लिखता और आश्रमवासियों की मदद से उसका गुजराती में अनुवाद कर लेता।''

'नवजीवन' में प्रकाशित उनके लेखों के संबंध में उनके एक जीवनीकार श्री पाण्डुरंग देशपांडे के विचार, ''धार्मिक पर्वों और जयन्तियों से लेकर प्रचलित राजनीतिक अथवा सामाजिक प्रश्नों की चर्चा करने वाली इस काल की उनकी रचनाएँ उनके साहित्य में सबसे अधिक ओजस्विनी और विपुल रही हैं। उनके सभी लेख-संग्रहों की बुनियाद-जैसी ये रचनाएँ गुजराती में 'कालेलकरना लेखो' नाम से बड़े आकार में कोई आठ सौ पृष्ठों के ग्रंथ में एक जगह पढ़ने को मिलती हैं। स्वातन्त्र्य और देश-प्रेम की भावना से उद्दीप्त कालेलकर की पहचान गुजरात को उन्हीं लेखों द्वारा हुई और आबाल-वृद्ध गुजरात उसे कभी भूला नहीं।''

काका साहब की अपनी हिमालय की यात्रा के संस्मरण सबसे पहले आश्रम की हस्तलिखित पत्रिका में निकले। बाद में वे ही गुजराती में 'हिमालयनो प्रवास' नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद में तो काका साहब गुजराती के सशक्त लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हो गए।

11. पहली जेल-यात्रा और क्षय रोग

जब कोई मनुष्य समाज के नियमों के विरुद्ध कोई काम करता है तब समाज की ओर से सरकार उसे सजा देती है। सजा में दुख और हानि के साथ-साथ मान-प्रतिष्ठा का प्रश्न भी जुड़ा रहता है। इसलिए मनुष्य सजा से डरता है। समाज का सबसे बड़ा प्रतिनिधि राजा, सरकार अथवा 'राज्य शासन' होता है। कई बार राजा अथवा सरकार द्वारा अपने विरुद्ध किए गए कामों के लिए भी सजा दी जाती है। उसमें समाज की अप्रत्यक्ष सहानुभूति और मान्यता होती है।

लेकिन जब सरकार जैसी संस्था अत्याचार या अन्याय करती हो, समाज हित को चोट पहुँचाती हो, तब उस स्थिति में क्या किया जाए? तब सरकार की निंदा करना, उसके प्रति असंतोष व्यक्त करना, कानून विरोधी ऐसा काम करना जिसमें अनीति न हो, अभीष्ट होता है। ऐसी अत्याचारी सरकार को अपमानित करने का अहिंसक इलाज गांधीजी ने खोज लिया था और उसको नाम दिया था–'सत्याग्रह'। यह एक बिलकुल अहिंसक और पूर्ण नीतियुक्त उपाय था।

इससे पहले जेल जाना बहुत ही बदनामी का काम माना जाता था। गांधीजी ने समाज की मानसिकता ही बदल दी। सत्याग्रह करके जेल जाने वालों की समाज में अब प्रतिष्ठा बढ़ गई थी। सरकार भी ऐसे व्यक्ति की अब उपेक्षा नहीं कर पाती थी। सरकार सत्याग्रही से अपने द्वारा दिए मान, सम्मान, उपाधि छीन तो सकती थी किंतु उसकी नैतिक प्रतिष्ठा सरकार को भी मान्य करनी पड़ती थी।

गांधीजी दक्षिण अफ्रीका का अपना काम खत्म करने के बाद स्थायी रूप से जब भारत आए तो राज्यनिष्ठ नागरिक की तरह रहने लगे। संकट

के समय जरूरत पड़ने पर सरकार की सहायता करते, सरकारी कानूनों का ईमानदारी से पालन करते और सरकार की इज्जत भी करते, लेकिन प्रजाहित पर आँच आने पर गांधीजी सरकार की आलोचना भी करते। फिर भी सुधार न होने पर सरकार के विरोधस्वरूप सत्याग्रह करते।

लेखक-संपादक काका साहब

काका साहब पहली बार गांधीजी के गुजराती अखबार 'नवजीवन' के प्रमुख लेखक के रूप में जेल गए। वे राजद्रोह के अपराध में जेल में बंद कर दिए गए। उन्होंने अपना अपराध स्वीकार करते हुए जो शब्द कहे थे, वे गांधीजी के शिष्य के सर्वथा अनुरूप थे। उन्होंने कहा, ''गांधीजी की गैरहाजिरी में 'नवजीवन' चलाने की जिम्मेदारी मेरे सिर पर थी। मेरे

लेखों में राजद्रोह है यह सिद्ध करने की तकलीफ सरकारी वकील को उठाने की जरूरत नहीं है। आज की सरकार के खिलाफ असंतोष फैलाना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। हाँ, यह काम हम केवल अहिंसक ढंग से करेंगे। गुनाह मैं कबूल करता हूँ और सजा पाने को तैयार हूँ।''

साबरमती जेल में ही उनके साथ हरिद्वार के पास की एक मुस्लिम संस्था के विद्वान आचार्य, मुस्लिम नेता और धर्म-रक्षक मौलाना हुसैन अहमद मदनी भी जेल में बंद थे। उनको खिलाफत आंदोलन में सजा देकर जेल में रखा गया था। जेल में काका साहब का इनसे परिचय हुआ। अपने रिवाज के अनुसार वे दिन में पाँच बार नमाज पढ़ते थे और उस नमाज में आमंत्रण देने के लिए जोर से अजान बोलते थे। जेल अधिकारियों ने अजान बोलने को मना किया तो मौलाना ने पाबंदी के खिलाफ सत्याग्रह करके उपवास शुरू कर दिया। मुसलमानों के धार्मिक अधिकार की रक्षा हेतु काका साहब ने भी सहानुभूतिपूर्वक उस उपवास में भाग लिया। परिणामस्वरूप काका साहब को सजा हुई और उन्हें तथा मौलाना साहब को जेल के अलग विभाग में एक साथ रखा गया।

इस तरह दोनों की अच्छी दोस्ती हो गई। सजा के तौर पर काका साहब की सभी किताबें लेकर जेलर के पास जमा करा दी गईं। केवल एक धार्मिक पुस्तक रखने की छूट दी गई। काका साहब ने झगड़ा करके यह कहते हुए कुरानशरीफ रखने की अनुमति प्राप्त कर ली कि ''सब धर्म मेरे हैं। किसी भी धर्म की पुस्तक पसंद करने का मुझे अधिकार है। गीता की जगह मैं कुरानशरीफ माँगूँ तो आप मना नहीं कर सकते।'' वह कुरानशरीफ का मराठी अनुवाद था। काका साहब रोजाना उसे पढ़ते और मौलाना साहब से इस्लाम धर्म की बारीकियाँ समझ लेते। काका साहब लिखते हैं, ''मेरे जेल-जीवन का यह एक बड़े से बड़ा फायदा था। मदनी साहब अपनी विद्वता के कारण मक्का-मदीना तक अध्यापक होकर पहुँचे थे। वहाँ भी इस्लाम के एक निष्णात के तौर पर उनकी प्रतिष्ठा फैली हुई थी। इसलिए उनके नाम के साथ मदनी जुड़ा हुआ था। ऐसे धर्मनिष्ठ विद्वान के पास से इस्लाम की जानकारी मैं प्राप्त कर सका; यह खुदाताला की मेहरबानी थी।''

इस जेल-प्रवास में ही काका साहब ने 'ओतराती दीवालो' (उत्तर की

दीवारें) नाम की एक छोटी-सी पुस्तक लिखी, जिसमें उनका प्रकृति-प्रेम मनमोहक रूप में प्रकट हुआ है।

सन् 1924 में जेल से छूटने के बाद गुजरात के राजनेताओं ने उनका सम्मान करने का निर्णय लिया था। बोरसद में 13 मई को होने वाली राजनीतिक परिषद् का उन्हें अध्यक्ष चुना गया, जिसे गांधीजी की अनुमति से काका साहब ने स्वीकार किया। तीन दिन परिषद की अध्यक्षता करने के बाद राजनीति से वह अलग ही रहे।

काका साहब के काम के विस्तार के साथ ही उनका स्वास्थ्य भी गिरता जा रहा था। काका साहब जेल में ही बीमार हो गए थे। जब वे कॉलेज के विद्यार्थी थे, तब बेलगाम में एक डॉक्टर ने उन्हें चेतावनी दी थी कि "आपके नाना के वंश में क्षय रोग है। आप अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखिए और कम से कम एक अण्डा तो रोज खाया ही कीजिए।"

काका साहब ने डॉक्टर की सलाह को नहीं माना। इसलिए डॉक्टर और वैद्य द्वारा क्षय रोग (टीबी) की पुष्टि हो जाने पर उन्हें कोई आश्चर्य नहीं हुआ। काका साहब की सेवा में श्यामल भाई, गंगाबा और स्वामी आनंद लग गए। उन्हें नर्मदा किनारे, पूना के पास चिंचवड़, सिंहगढ़ और समुद्र के किनारे बोर्डी आदि स्थानों पर ले गए। उनकी तबीयत में सुधार तो हुआ लेकिन रोग से मुक्ति नहीं मिली। स्वामी आनंद उन्हें अहमदाबाद आश्रम में ले गए। डॉ. तलवलकर ने उन्हें बाईस रासायनिक इंजेक्शन लगाए, तब रोग से छुटकारा मिला। इस अवधि में काकी और बेटा सतीश साथ ही रहे। यह सन् 1927 के अंत का समय था।

बाद में काका साहब ने नैसर्गिक (प्राकृतिक) उपचार भी किया। स्वस्थ रहने का मंत्र भी सीखा। 'सुख-दुख से अलिप्त रहने का सूत्र' तथा 'मनुष्य को चिंता नहीं, चिंतन करना चाहिए' ये उनके स्वस्थ जीवन जीने के मुख्य आधारसूत्र बन गए।

12. दाँडी-यात्रा : गांधी-काका का जेल-सहजीवन

सन् 1929 में लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन का कांग्रेस के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इस अधिवेशन, में पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में सम्पूर्ण स्वातंत्र्य का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हुआ। 26 जनवरी, 1930 के दिन सारे भारत में सम्पूर्ण स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा ली गई। देश में चारों तरफ आजादी पाने के लिए स्वतंत्रता के नारे गूँज रहे थे। उस दिन सुबह की प्रार्थना के बाद विद्यापीठ के विद्यार्थियों को काका साहब ने भाव-विह्वल होकर कहा, ''वर्षों से मैं जिस घड़ी की राह देख रहा था वह आ पहुँची है। यह घड़ी धन्य है। हम सबके लिए, देश के लिए धन्य है।''

काका साहब तन-मन से उसी घड़ी से अपनी तैयारी में जुट गए। तभी गांधीजी ने नमक कानून भंग करने की घोषणा कर विश्व को हैरत में डाल दिया। गांधीजी ने कहा, ''मैंने घुटने टेककर वायसराय से रोटी की याचना की थी परन्तु उन्होंने उसके बदले में पत्थर दे दिया।''

इस प्रकार 1930 में देश में पूर्ण स्वराज्य की लड़ाई का बिगुल बज गया। काका साहब ने विद्यापीठ के आचार्य होने के नाते दाँडी-कूच के लिए दो अरुण टुकड़ियाँ तैयार कीं। ये बारह-बारह विद्यार्थियों और कार्यकर्त्ताओं की थीं। उन टुकड़ियों का काम दाँडी-कूच के मुकामों पर आगे से जाकर सफाई करना, रहने और भोजन की समुचित व्यवस्था करना तथा गाँव वालों को जाग्रत करना था। इससे दाँडी-यात्रियों को बहुत सुविधा हुई, साथ ही यात्रा में पड़ने वाले गाँव वालों को भी अनुकूलता हुई।

बापूजी ने इन अरुण टुकड़ियों के 24 सदस्यों को दाँडी-यात्रियों में सम्मिलित कर लिया था। वे सब भी नमक सत्याग्रह में शामिल हो गए।

गांधीजी ने स्वराज्य आंदोलन की सबसे अद्भुत और शानदार लड़ाई छोड़कर नमक सत्याग्रह की 241 मील लंबी दाँडी-यात्रा पैदल की। जो दाँडी-कूच (यात्रा) के नाम से प्रसिद्ध है।

श्री विष्णु प्रभाकर के शब्दों में, ''12 मार्च, सन् 1930 को वे अपनी प्रसिद्ध दाँडी-यात्रा पर चल पड़े। हाथ में दण्ड, कमर में लटकती घड़ी, बड़े-बड़े पग, वह एक ऐतिहासिक भव्य दृश्य था। 24 दिन बाद 5 अप्रैल, 1930 को वह अनोखा योद्धा सागरतट पर पहुँचा और अगले दिन सवेरे 6 अप्रैल, 1930 को साढ़े आठ बजे समुद्र में स्नान करके, बच्चों के खिलवाड़ की तरह नमक का एक टुकड़ा उठा लिया। संसार हँस पड़ा था परन्तु उसी क्षण नमक के उस जरा-से टुकड़े से एक प्रचण्ड ज्वाला फूटी, जिसने सारे देश को पागल बना दिया।''

विद्यापीठ के सभी शिक्षक और विद्यार्थी इस स्वतंत्रता-संग्राम तथा दाँडी-यात्रा में भाग लेने को उत्सुक थे। विद्यापीठ स्वराज्य युद्ध की छावनी के रूप में बदल गया था।

नमक सत्याग्रह में भाग लेने के कारण काका साहब को भी जेल की सजा हुई। उन्हें भी राजबंदी गांधीजी के साथ यरवदा की जेल में रखा गया। गांधी के साथ जेल में रहना काका साहब के लिए तो एक दुर्लभ संयोग था। काका साहब उन सौभाग्यशाली लोगों में से थे जो इतनी अंतरंगता और निकटता से गांधीजी के जेल-जीवन के सहयात्री बने। इसका पूरा-पूरा लाभ भी उन्हें मिला। काका साहब जो भी अनुभव करते, चिंतन-मनन करते उसको कागज पर प्रमाण बनाने की पूरी लगन के साथ कोशिश करते। उन्होंने गांधीजी के साथ जेल-सहजीवन का 'नमक के प्रभाव' नामक पुस्तक में सुंदर वर्णन किया है।

देश में वे दिन बहुत ही उथल-पुथल और अराजकता के थे। सरकारी कानूनों की अवहेलना करके एक ओर देश के दीवाने जेलों को भर रहे थे तो दूसरी ओर सरकार समझौता वार्ता के लिए प्रयत्नशील थी। डॉ. सप्रू और डॉ. जयकर मध्यस्थता का काम कर रहे थे। उनकी नेताओं से बातचीत की सुविधा के लिए सरकार ने सर्वश्री मोतीलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल,

जवाहरलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू, सैयद महमूद तथा जयरामदास दौलतराम जैसे नेताओं को भी कुछ समय के लिए यरवदा जेल में ही रखा।

गांधीजी अद्भुत व्यक्तित्व के धनी थे। एक तरफ तो राष्ट्रीय महत्व की जटिल वार्ताओं द्वारा गंभीरता से चिंतन करते तो दूसरी तरफ चरखे के संबंध में काका साहब के साथ सरस और विनोदी भाव के साथ माथापच्ची करते।

जेल-जीवन के दौरान काका साहब की विविध प्रतिभाओं और रूपों का भी परिचय मिलता है। जीवन का ऐसा कोई विषय नहीं जिसको काका साहब ने छुआ न हो। खादी-भक्त काका चरखा चलाने में सिद्धहस्त थे। चरखे को अधिक से अधिक उपयोगी बनाने की यंत्र-बुद्धि भी उनके पास है, गांधीजी इस बात से अपरिचित थे।

एक दिन काका ने कहा, ''बापूजी, आप मेरी गुजराती भाषा की भक्ति और साहित्य का विकास करने की वृत्ति के बारे में तो जानते हैं पर मेरे पास यंत्र को समझने का दिमाग भी है, यह नहीं जानते।''

बापू हँसते हुए बोले, ''आपको अपना दावा साबित करना होगा। मेरी एक उलझन है। तकुओं पर से सूत उतारने के लिए मुझे एक हाथ में तकुआ पकड़ना पड़ता है, और दूसरे हाथ से चरखे का चक्र घुमाना पड़ता है। अब यदि दो में से एक हाथ छूटा रह सके, ऐसी सहूलियत आप निकाल सकें तो मैं मानूँगा कि आपमें यंत्र-बुद्धि है।'' काका साहब ने बापूजी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

जेल में व्हीलर नाम के यूरोपियन कैदी को काका साहब ने अपनी बात अच्छी तरह समझा दी। उसने बड़ी चतुराई से रोमन लिपि के यू (U) के आकार की एक छोटी-सी चीज एक एल्यूमीनियम के टुकड़े में से ऐसी बना दी जिसमें सूत से भरा हुआ तकुआ टिक सके। इस पर गांधीजी बहुत खुश हुए और फिर तो दोनों जन चरखे को लेकर विस्तार से बातचीत करते।

बाद में गांधीजी ने जिस यरवदा-चक्र को तैयार किया उसकी रचना-प्रक्रिया में काका साहब से उन्होंने बराबर विचार-विनिमय किया था।

इसके अलावा काका साहब की जेल-प्रवास की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि थी—गांधीजी के हृदय में नक्षत्र विद्या के प्रति उत्सुकता और रुचि जाग्रत करना। नक्षत्र विद्या काका का प्रिय विषय था। यरवदा जेल में उन्हें

खुले आकाश के नीचे सोने की अनुमति मिली हुई थी। जिसका उन्होंने भरपूर लाभ उठाया। शाम होते ही आकाश में तारे दिखने लगते और धीरे-धीरे प्रकट होते हुए तेजी से चमकने लगते। सारी रात यात्रा करने के बाद अस्त हो जाते। यह सुंदर दृश्य कवि-हृदय काका साहब को आनंद और उल्लास से भर देता।

छब्बीस नक्षत्रों, आकाश को बारह भागों में बाँटने वाली बारह राशियों और उनके आकार तथा स्थानों आदि का काका साहब को खूब ज्ञान था। इस ज्ञान से वह बापूजी को भी परिचित कराना चाहते थे। अतः रात को सोने से पहले और सवेरे प्रकाश होने से पूर्व गांधीजी का ध्यान ग्रहों और नक्षत्रों की ओर खींचने लगे। गांधीजी भी काका साहब का मन रखने के लिए आकाश को निहारते लेकिन उनकी रुचि इस ओर जाग्रत नहीं हुई। लेकिन काका साहब ने बिना हार माने अपने प्रयत्न जारी रखे। इसके लिए उन्होंने नक्षत्र विद्या पर कई पुस्तकें और नक्शे मँगवाकर गांधीजी को दिए ताकि जटिल राजनीतिक चर्चाओं और चरखा सुधार की शुष्क प्रक्रिया से कुछ तो उन्हें मुक्ति मिल सके।

काका साहब 19 जून, 1930 को जेल-प्रवास के लिए गांधीजी के पास आए और 29 नवम्बर, 1930 को जेल से मुक्त होकर चले गए। लगभग साढ़े पाँच महीने में उन्होंने गांधीजी के अंतर में नक्षत्रों के प्रति जिज्ञासा के भाव जगा दिए, जो सन् 1932 में पुनः जेल में आने के बाद उत्कट हो उठे। स्रष्टा की अनन्तता की अनुभूति कराने वाला यह नक्षत्र दर्शन गांधीजी के लिए आध्यात्मिक संबल बन गया। गांधीजी पुस्तकें मँगवाते, पढ़ते और काका साहब के पास भेज देते। तारों से संबंधित आनंद के अनुभव काका साहब के साथ पत्रों द्वारा बाँटते। आनंद-भरा यह आदान-प्रदान दोनों के बीच जीवनभर चलता रहा।

बेलगाम जेल से गांधीजी ने काका साहब को एक पत्र में लिखा, "गुजराती भाषा में एक अच्छी पुस्तक होनी चाहिए। उसमें खगोलशास्त्र की जानकारी भी रहे। हमारे यहाँ दो अलग पुस्तकें चल नहीं सकेंगी। हमें तो खगोलशास्त्रीय ज्ञान और अनुभव दोनों का मिश्रण चाहिए। आप यहाँ होते तो मैं आपसे एक ऐसी पुस्तक का काम लेता और उसमें स्वयं भी मदद करता। यदि मेरा ज्ञान बहुत कच्चा न होता तो मैं खुद लिखने बैठ

जाता। मुझे इस विषय में इतनी रुचि उत्पन्न हो गई है और मैं इस शास्त्र की धार्मिक उपयोगिता का समझने लगा हूँ।''

काका साहब चाहते हुए भी गांधीजी की इस इच्छा को पूरा नहीं कर पाए।

गांधी बने गणेश—काका साहब गुणों से भरपूर थे परंतु वह नियमित रूप से कोई काम नहीं कर पाते थे। अनियमित रहना उनका स्वभाव बन गया था। स्वतंत्र मनुष्य किसी भी वृत्ति का दास बनकर क्यों रहे? इसकी पूर्ण सार्थकता काका साहब में देखने को मिलती है। इसके अलावा वह कभी स्वयं हाथ से नहीं लिखते थे, लिखने के लिए सदैव ही उन्हें एक गणेश की जरूरत रहती थी।

जब जेल में गांधी-काका मिले तो एक विचित्र स्थिति हुई। काका जितने अनियमित गांधी उतने ही नियमित। एक दिन गांधीजी ने हिसाब-किताब लगाकर पाया कि उनके पास आधा-पौना घण्टा का समय बचा रहता है। तब गंभीरता और आत्मीयता से उन्होंने काका साहब से पूछा, ''मेरे पास पौन घण्टे का समय बचा है। आपको कुछ लिखवाना हो तो मैं तैयार हूँ।''

इस पर काका साहब को बहुत लाज आई। तब से उन्होंने स्वयं हाथ से लिखना प्रारंभ कर दिया। कुछ दिन ठीक चला। लेकिन पुरानी आदत छूटे कैसे? ढाक के वही तीन पात।

13. राष्ट्रभाषा हिन्दी के अनन्य सेवक

विद्यापीठ से निवृत्ति के साथ ही काका साहब के जीवन के एक महत्वपूर्ण अध्याय का समापन हुआ। अब उनके समक्ष था—अनन्त और मुक्त आकाश। 1934 में जब काका साहब जेल से बाहर आए तो उस समय देश में गांधीजी की हरिजन-यात्रा चल रही थी। काका साहब ठहरे चिरयात्री। वह अपना लोभ संवरण नहीं कर सके। उन्होंने गांधीजी के साथ पंजाब, सिंध, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल आदि उत्तर भारत के प्रांतों की यात्रा की। यात्रा के दौरान गांधीजी ने राष्ट्रीय शिक्षा के संबंध में अपने विचार रखे।

काका साहब 1917 में आश्रम प्रवेश के समय हिन्दी से जुड़े थे लेकिन कुछ विशेष कारणों से वह इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा प्रदर्शित नहीं कर सके थे। काका साहब के शब्दों में, "मैं आश्रम में दाखिल हुआ उसके थोड़े ही दिन बाद वे (गांधीजी) हिन्दी प्रचार के लिए मद्रास की ओर भेजने वाले थे। मैंने हिम्मतपूर्वक ना की...मैंने कहा, 'मैं आपके पास आया हूँ आपके विचार, आपकी कार्य-पद्धति और आपका व्यक्तित्व समझने के लिए...। मैं जानता हूँ कि हिन्दी का प्रचार स्वराज्य की दृष्टि से आपके लिए महत्वपूर्ण है। फिर भी इस समय आश्रम छोड़कर दूसरा काम लेने की बात मुझे सूझती नहीं।'

बापूजी ने मेरी बात मान ली और गुजराती समाज की सेवा करने, उसको अपनाने का मुझे उत्तम से उत्तम मौका दिया। इसके लिए मैं आजन्म उनका ऋणी रहूँगा। किन्तु आगे चलकर जब मैंने गुजरात छोड़ने की बात की और यह बात स्वीकार किए बिना चारा नहीं, ऐसा बापूजी ने देखा तब उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार-कार्य आखिर मुझे पकड़ा ही दिया।"

सन् 1932 में स्वराज्य आंदोलन जोर पकड़ चुका था। काका साहब अनेक बार जेल गए। गुजरात विद्यापीठ तथा गुजरात छोड़ने से बापूजी काका साहब से नाराज अवश्य हुए लेकिन अंततः काका साहब की बात मानकर दक्षिण का हिन्दी प्रचार मजबूत करने के लिए उन्हें वहाँ भेजा। इस प्रकार राष्ट्रभाषा हिन्दी के काम में काका साहब पूरे मनोयोग से जुट गए।

1935 में इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ, बापूजी उसके अध्यक्ष चुने गए थे। उस सम्मेलन में काका साहब ने हिन्दी लिपि सुधार का प्रस्ताव रखा लेकिन रूढ़िवादी हिन्दी लोगों ने उसे मान्य नहीं किया। आगे चलकर सम्मेलन ने राष्ट्रभाषा प्रचार के लिए एक समिति बनाई जिसका कार्यालय गांधीजी ने वर्धा में रखा। इस प्रकार राष्ट्रभाषा प्रचार काका साहब का जीवन-कार्य बन गया। काका साहब के शब्दों में, "मेरा भाग्य हिन्दी के भाग्य के साथ जुड़ गया, उसका प्रारम्भ मेरे आश्रम-निवास के साथ ही सन् 1917 में हुआ।"

दक्षिण के चारों प्रांतों में हिन्दी प्रचार का काम हिन्दी साहित्य सम्मेलन ठीक से नहीं कर पा रहा था। उसको व्यवस्थित करने के लिए काका साहब दिसम्बर 1934 में वहाँ गए। गांधीजी का निर्देश था कि हिन्दी प्रचार के लिए पैसों की व्यवस्था भी वहीं से करें ताकि हिन्दी उनके जीवन में प्रवेश कर जाए। दो महीने तक लगातार काका साहब समस्त दक्षिण प्रदेश में घूमते हुए समझाते रहे कि "भारतीय संस्कृति को व्यक्त करने वाली हिन्दी (तब) बारह करोड़ लोगों की मातृभाषा है। इसको राष्ट्रभाषा स्वीकार करने से भारतीय संस्कृति समर्थ और पुष्ट होगी।" लोगों ने इस विचार का स्वागत किया और चन्दा भी दिया। काका साहब अब पूरी तरह हिन्दीमय हो चुके थे।

बाद में काका साहब ने लिखा, "अब तो यह मेरा जीवन-कार्य-सा बन गया। सन् 1934 से लेकर सन् 1940 तक यह काम मैंने पूरी निष्ठा और पूरे उत्साह से किया। इसमें आशातीत सफलता मिली। यही काम यदि बिना किसी विघ्न के चला होता तो देश का वायुमण्डल कुछ और ही होता। आज जो कुछ लिख रहा हूँ, उसके पीछे मेरा अनुभव, भारतीय इतिहास का मेरा अध्ययन और गांधीजी से मिली जीवन-दृष्टि, इन तीनों का समन्वय है।"

आइए, काका साहब की कुछ अहिंदीभाषी प्रांतों की कार्यप्रणाली पर दृष्टिपात करें।

काका साहब आसाम गए, वहाँ से मणिपुर जाना था लेकिन तब वहाँ बिना अनुमति प्रवेश वर्जित था। उन्होंने ब्रिटिश एजेंट के नाम तार भेजकर अनुमति प्राप्त की और ट्रेन में दिनभर यात्रा करके इम्फाल पहुँचे। अपरिचित होते हुए भी परिचय बनाया और एक व्याख्यान देकर दूसरे दिन वापस लौट आए। वर्षों बाद जब काका वहाँ गए तो आश्चर्यचकित रह गए कि वहाँ लोगों ने हिन्दी के अनेक केन्द्र खोल रखे थे। साहित्य-चर्चा भी खूब होती थी। उन लोगों का कहना था कि, "बरसों पहले आप आए थे और आपने हिन्दी के पक्ष में व्याख्यान दिया था। उसका मारवाड़ियों और असमिया

मद्रास : दक्षिण भारत के लोगों के साथ काका

लोगों पर अच्छा असर हुआ था। उनके सहयोग से हम कितनी प्रगति कर सके हैं, यह आपको दिखाते हैं। आज हमें आनन्द है और अभिमान भी।"

इसी प्रकार केरल की यात्रा का अनुभव तो और भी रोमांचकारी है। अपने गंतव्य पर पहुँचने के बाद काका साहब ने स्थानीय लोगों की सहायता

से आगे का कार्यक्रम निश्चित किया। अगले दिन सुबह एक अंग्रेजी दैनिक में उनके स्वागत में शीर्षक था, 'एनअदर आर्यन इनवेजन फ्राम दी नार्थ'—उत्तर से एक और आक्रमण। और लिखा था, ''काका साहब जैसे बड़े नेता हिन्दी प्रचार के लिए दक्षिण में घूमने वाले हैं। आज केरल आयेंगे।''

इस पर काका साहब अपने साथियों को परेशान-सा होते देख विनोदपूर्वक बोले—''शिक्षाशास्त्री हूँ पूरा फायदा उठाऊँगा इस बात का।''

सबसे पहले उन्होंने हिन्दी के खिलाफ भड़काने वाले लोगों का पता लगाया, फिर उन्हीं लोगों को अपनी सभा में सादर आमंत्रित किया। आमंत्रित लोग चकित थे लेकिन अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए वहाँ आए।

काका साहब ने भाषण कुछ इस अंदाज में शुरू किया, ''भाइयो! आप भूल रहे हैं मैं उत्तर का नहीं हूँ। मैं तो उत्तर और दक्षिण के बीच मध्य का (जरा पश्चिम की तरफ का) हूँ। आप जानते हैं कि हम महाराष्ट्रियों को सब 'दक्षिणी' कहते हैं। हिन्दी राष्ट्रभाषा भले ही हो किन्तु मेरी मातृभाषा तो महाराष्ट्री है। उत्तर की फौज लेकर मैं धावा क्यों बोलूँ? आपका ही नेतृत्व करके क्या मैं उत्तर के विरुद्ध नहीं लड़ूँगा।''

काका साहब के इन विनोदपूर्ण शब्दों से लोगों के संदेह के भाव तिरोहित हो गए।

काका साहब ने आगे कहा, ''आपको समझना चाहिए कि आज तक सारे देश पर चन्द खास प्रभावी लोग, स्वदेशी हों या विदेशी, सामान्य जनता पर राज्य करते आए हैं और जनता की भाषा को दबा देते हैं।

प्राचीन काल में आर्य लोग उत्तर प्रदेश में सर्वत्र फैले, फिर दक्षिण में आए और उन्होंने यहाँ संस्कृत भाषा चलाई। मैं संस्कृत का भक्त हूँ। दक्षिण में संस्कृत का प्रचार अच्छा हुआ। इसमें आप केरलवासियों ने सबसे अधिक उत्साह दिखाया है।

उसके बाद आए पठान और मुगल। उनकी धर्म-भाषा अरबी और संस्कृति की भाषा फारसी है जिसको आज परशियन कहते हैं—उन भाषाओं का राज्य चला। ये दोनों भाषाएँ उत्तर की देशी भाषा के साथ मिलीं और उर्दू पैदा हुई। उसके बाद पश्चिम के लोग आए। उसका इतिहास आप जानते हैं। उनकी भाषा अंग्रेजी। उनका राज्य हम पर चल रहा है। वह कुछ यहाँ की प्रजा की भाषा नहीं है।

किन्तु यह भाषा का प्रश्न आपको सविस्तार समझा दूँ, इससे पहले मैं अपनी ही बात आपको कहना चाहता हूँ।

आपके ऊपर कोई आक्रमण करे तो आप संगठित होकर अपने बचाव की तैयारी करते हैं। मैं आपको समझाने आया हूँ कि केवल आत्मरक्षा हो, यह उत्तम लक्षण नहीं है। संकट देखकर, दीवार बाँधकर, अंदर रहकर आत्मरक्षा करने के बदले आक्रमणकारियों के विरुद्ध आप ही आक्रमण क्यों न करें।

अब आप ही बताइए, पिछले दस हजार वर्षों में केरल का सबसे बड़ा आदमी कौन था? बेशक वे आद्य शंकराचार्य थे। वे केरल के नाम्बुद्री ब्राह्मण थे। केरल के बचाव के लिए उन्होंने यहाँ पर सांस्कृतिक किले नहीं बाँधे। उन्होंने तो उत्तर के लोगों की भाषा सीख ली और उन पर आक्रमण किया। यह अकेला छोटा केरल का ब्राह्मण सारे देश में, हर जगह जाता था और वाद-विवाद के लिए आह्वान देता था। उत्तर की भाषा सीखकर उत्तर के शास्त्रों में प्रवीण होकर उन्होंने दिग्विजय चलाया। सारा देश जीतकर उन्होंने चारों छोरों पर आध्यात्मिक मठों की स्थापना की। वे चार आध्यात्मिक छावनियाँ हैं, जो आज भी मजबूती से काम कर रही हैं। पश्चिम में द्वारका के पास, पूर्व में जगन्नाथपुरी, उत्तर में हिमालय की गोद में जोशीमठ, और दक्षिण में शृंगेरी अथवा कन्याकुमारी। चार यात्राधामों में उन्होंने अपने मठों की स्थापना की और तब से इन सब स्थानों पर शंकराचार्य के शिष्यों ने धर्म-प्रचार किया है।

मैं आपसे कहने आया हूँ कि अब हम ब्राह्मणों का, मुल्लाओं का अथवा अंग्रेज आई. सी. एस. या मिशनरियों का राज्य नहीं चाहते। हम भारतीय प्रजा का राज्य चाहते हैं। यह राज्य प्रजा की भाषा में चलना चाहिए। केरल का राज्य न चलना चाहिए अंग्रेजी में, न चलना चाहिए हिन्दी में। वह तो मलयालम में ही चलना चाहिए।

और भारत की एकता सँभालनी है न? वह संभव होगा राष्ट्रभाषा द्वारा। बिना एकता के नहीं टिक सकेगी हमारी स्वतंत्रता, और न टिक सकता है हमारा सामर्थ्य। दुनिया में हमारे देश की प्रतिष्ठा भी नहीं जम पाएगी। और इस देश की भाषाओं में जिस भाषा को बोलने वालों की संख्या सबसे अधिक होगी और जो भाषा समस्त जनता के लिए आसान

होगी, ऐसी स्वदेशी भाषा ही राष्ट्रभाषा बन सकेगी। इसलिए मैं आपको कहने आया हूँ कि मलयालम की मदद में, उत्तर भारत की जनता की भाषा हिन्दी 'एक जरूरी दूसरी भाषा' के तौर पर आप सीख लें और फिर शंकराचार्य की तरह उत्तर भारत पर धावा बोल दें। आपको सिर्फ आत्मरक्षा करनी है या सर्वसंग्राहक एकता का धावा लेकर सर्वत्र पहुँचना है?

आप संस्कृत उत्तम जानते हैं। संस्कृत उत्तम तरीके से सीख रहे हैं।

उत्तर भारत से डरकर यदि आप दक्षिण भारत के लोग अलग रहेंगे और अंग्रेजों की छत्रछाया में रहना चाहेंगे तो देश के आप टुकड़े करेंगे। फिर एक-एक टुकड़ा भिन्न-भिन्न जबरदस्त राष्ट्र के हाथ में चला जाएगा। यह सब टालने के लिए उत्तर की प्रजा की भाषा सीखकर उसका प्रचार करने का काम आप ले लीजिए। जो काम एक समय श्री शंकराचार्य ने किया, वही आज आपको दूसरे ढंग से करना है; किंतु उसके लिए अखिल भारतीय एकता का आग्रह आपको सँभालना होगा।''

इस प्रकार काका साहब के उत्साहपूर्वक और विश्वासपूर्वक आग्रह ने केरलवासियों का विरोध तो समाप्त कर ही दिया, बल्कि उन्होंने उन लोगों की सहायता से केरल में हिन्दी प्रचार का काम पूरे जोश से शुरू कर दिया।

काका साहब का यह भाषण उनकी सुंदर कार्यशैली और चिंतन के साथ-साथ राष्ट्रभाषा के प्रचार-प्रसार का मार्ग भी दिखाता है।

राष्ट्रभाषा का सही स्वरूप—राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए उठे विवाद के मनोविज्ञान को समझने और समझाने की काका साहब ने ईमानदारी से कोशिश की। सच्चाई तो यह है कि ब्रिटिश शासकों ने 'बाँटो और राज्य करो' की अपनी नीति के आधार पर भाषा के प्रश्न को इतना उलझा दिया कि देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद भी भाषा का प्रश्न सुलझने के स्थान पर उलझता जा रहा है।

भाषा विवाद की जड़ अतीत में दिखाई पड़ती है। प्रथम स्वाधीनता-संग्राम 1857 में हमारी हार क्यों हुई, सबको ज्ञात है। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। अंग्रेजों ने विद्रोह को कुचल दिया और भारत में अपना शासन अधिक मजबूत कर लिया। ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुओं की पीठ यह कहकर थपथपाई, ''यह देश आपका है। मुसलमान बाहर से आए हैं। उन्होंने जबरदस्ती आपको मुसलमान बनाया है। उस स्थिति

से मुक्त होने का अवसर हम तुम्हें दे रहे हैं। हमारी भाषा सीखो। तुम्हें ऊँचे-ऊँचे पद मिलेंगे। आप ही राज चलाएँगे। बस, आप हमारे प्रति वफादार रहें।''

तब हिन्दुओं ने अंग्रेजी भी सीखी और उनकी सभ्यता को प्रेम करने लगे। हिन्दुओं ने अंग्रेजी का शिक्षण लेकर और इंग्लैंड का इतिहास पढ़कर स्वराज्य की बातें करना शुरू कर दिया। दूसरी तरफ मुसलमानों के अंग्रेजी भाषा और सभ्यता के प्रति अच्छे भाव नहीं थे। अंग्रेज़ी राज्य से पहले मुसलमान ही शासक थे और अंग्रेजों ने उनका शासन छीन लिया था। अतः अंग्रेज उनके दुश्मन थे। इसलिए उन्होंने अंग्रेजी भाषा नहीं सीखी।

कांग्रेस की स्थापना अंग्रेजों को अच्छी नहीं लगी थी। उन्होंने मुसलमानों को अपने पक्ष में करने का विचार बनाया। उनसे कहा, ''हमारा राज हुआ, उससे पहले हिन्दुस्तान पर आपका ही राज था। अब यदि प्रजाराज हो जाएगा तो प्रचण्ड हिन्दू-बहुमत का राज होगा। उसमें आपको क्या मिलेगा? उससे बेहतर तो आप 'कांग्रेस का विरोध' कीजिए। हम आपको आपके शिक्षण में खास मदद करेंगे। ऊँची सरकारी नौकरियाँ देंगे।''

मुसलमानों ने ललचाकर कांग्रेस का विरोध करना शुरू कर दिया। कांग्रेस को सदैव हिन्दू जमात के नाम से पुकारा।

हिन्दुओं में भी एक ऐसा पक्ष था जो पुरानी संस्कृति और संस्कृत-निष्ठ हिन्दी का पक्षपाती था। उर्दू को वे विदेशी लिपि में लिखी जाने वाली मुसलमानों की भाषा मानते थे। कुछ लोग ऐसे भी थे जो अंग्रेजी राज को तो अच्छा मानते थे परंतु अंग्रेजी भाषा और शिक्षण को राष्ट्रीयता के मार्ग का अवरोध समझते थे। इस प्रकार हिन्दू लोग उर्दू और अंग्रेजी दोनों के विरोध में हिन्दी का पक्ष लेने लगे थे। उस समय उन्हें यह समझने की जरूरत थी कि अंग्रेजों से लड़ने के लिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी जैसे भेद भूलने होंगे।

इसी समय राजनीतिक मंच पर गांधीजी का उदय हुआ। उनका उद्देश्य सभी को साथ लेकर स्वराज्य की लड़ाई प्रारंभ करना था। इसलिए एक राष्ट्रभाषा की खोज उनके लिए अनिवार्य थी और वह हिन्दी ही हो सकती थी, हिन्दी भी ऐसी जो सबको ग्राह्य हो, मान्य हो। उत्तर भारत के हिन्दू गांधीजी की हिन्दी को तो पूर्ण समर्थन देते थे लेकिन उर्दू का विरोध करते रहे।

दूसरी तरफ जवाहरलाल नेहरू अंग्रेजी राज का तो विरोध करते थे किंतु पश्चिमी सभ्यता का नहीं। अंग्रेजी साहित्य से लगाव होने के कारण उन्हें राष्ट्रभाषा के रूप में अंग्रेजी चाहिए थी। यद्यपि गांधीजी के प्रभाव में आकर जवाहरलालजी ने हिन्दी को स्वीकार तो अवश्य कर लिया परन्तु उनके हृदय पर अंग्रेजी ही राज करती रही।

मुसलमान भी गांधीजी की हिन्दी को स्वीकृति नहीं दे रहे थे। काका साहब ने समझ लिया था कि मुसलमान पूरे मन और उत्साह से हिन्दी और उसके प्रचार-प्रसार को सहयोग नहीं देंगे। एक राष्ट्रवादी मुसलमान नेता ने अपने पक्ष को स्पष्ट करते हुए काका साहब से कहा था—"आप दक्षिण के लोग हमारी बात बराबर नहीं समझ पाते। इसलिए एक बात ध्यानपूर्वक सुन लीजिए। उत्तर भारत में हमारा राज था। आज जिस तरह इस देश पर अंग्रेजों का प्रभाव है, उसी तरह उस समय हिन्दू-मुसलमान सभी परसियन सीखते थे। संस्कारिता के लिए दुनियाभर में मशहूर यही भाषा थी। हमारी धर्मभाषा अरबी भी एक समर्थ भाषा है। दोनों भाषाएँ इस देश के लोग (हिन्दू-मुसलमान दोनों) निष्ठापूर्वक सीखने लगे थे। हमारा राज्य फारसी में चलता था।

यह सब होते हुए प्रजा का महत्व पहचानकर अरबी और फारसी छोड़कर जनता की भाषा 'खड़ी बोली' को हमने राजभाषा स्वीकार किया। आज जैसे भारत में सब देशी भाषाओं में अंग्रेजी के शब्द घुस गए हैं, उसी तरह खड़ी बोली में अरबी-फारसी के शब्द प्रचुर मात्रा में घुसे। उस भाषा का नाम हुआ उर्दू। वह थी पूरी-पूरी प्रजाभाषा। इस देश में रहकर राज करना है तो उर्दू जैसी प्रजाभाषा को भी राजभाषा बनाना चाहिए—ऐसा तय करके हमने उर्दू को राजभाषा करार दिया।

अब लिपि का सवाल लीजिए। भारत में हरेक भाषा की अपनी लिपि है। उसमें राजभाषा के लिए कौन-सी लिपि पसंद करनी है—यह सवाल हमारे सामने आया। आज जैसे ज्यादातर सरकारी लोग रोमन लिपि को अन्तर्राष्ट्रीय लिपि मानने को तैयार हैं उसी तरह उन दिनों फारसी लिपि तीन भू-खण्डों में एशिया, दक्षिण यूरोप और अफ्रीका में चलती थी। उसी लिपि को हमने उर्दू के लिए पसंद किया। उस लिपि को पूरी तरह स्वदेशी बनाने के लिए हमने उसमें थोड़े सुधार भी किए। राज्यकर्त्ता होते हुए अपना

अधिकार और आग्रह छोड़कर राष्ट्रभाषा के लिए प्रजामान्य उर्दू को हमने स्वीकार किया और उसे चलाया। अब उस अखिल भारतीय राजभाषा को छोड़कर हिन्दुओं की खातिर हिन्दी स्वीकार करने को आप कहते हैं, यह कहाँ तक योग्य है? यह आप ही सोचिए। जिसे आप उर्दू लिपि कहते हैं वह फारसी लिपि लिखने में आसान है। उस लिपि को छोड़कर रोमन लिपि लेने को आप कहें तो हम समझ सकते हैं किंतु नागरी लिपि हमारे माथे क्यों लाद रहे हैं?''

(समन्वय के साधक पृ. 166-67)

काका साहब समझ गए थे कि भले ही ये शब्द राष्ट्रीय मुस्लिम नेताओं के नहीं हैं पर भाषा उन्हीं की है। हिन्दी को अपनाने तथा उसके प्रसार में कुछ राष्ट्रीय मुसलमानों का सहयोग भले ही मिले लेकिन राष्ट्रीय प्रसंगों में पूरी मुसलमान कौम का साथ नहीं मिलेगा।

उपरोक्त स्थिति में पं. सुन्दरलाल (सुप्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी और हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल पक्षधर तथा 'भारत में अंग्रेजी राज' पुस्तक के लेखक) ने गांधीजी से कहा—

''हिन्दी की व्याख्या आप चाहे जितनी व्यापक करें, उसमें सारे-के-सारे उर्दू शब्दों को स्वीकार करें तो भी जब तक उसका नाम हिन्दी है, तब तक आपकी राष्ट्रभाषा की प्रवृत्ति हिन्दू राज्य की प्रवृत्ति मानी जाएगी। इसलिए हिन्दी और उर्दू नाम छोड़कर पूर्ण राष्ट्रीय व्याख्या की राष्ट्रभाषा को हिन्दुस्तानी नाम दीजिए और उसके लिए नागरी तथा उर्दू दोनों लिपि मान्य रखिए। तभी मुसलमानों की शंका दूर होगी।''

गांधीजी को सुन्दरलालजी की बात जँची और उन्होंने अपने हिन्दी प्रचार के स्वरूप में कुछ बदलाव करने का विचार बनाया। परंतु काका साहब देशभर में घूमे थे और लोगों की वृत्ति को समझ गए थे। इसलिए उनका विचार कुछ और ही था। उन्होंने गांधीजी से कहा, ''बहुत-से मुसलमान उर्दू के लिए 'हिन्दुस्तानी' शब्द काम में लेते हैं, इसलिए सामान्य जनता 'हिन्दुस्तानी' का अर्थ उर्दू ही करती है। नागरी के साथ उर्दू को भी राष्ट्रीय लिपि मानेंगे तो सारे देश में उसका प्रचार नहीं हो सकेगा। संस्कृत के कारण कई बंगाली और मद्रासी लोग भी नागरी लिपि जानते हैं। राष्ट्रीय एकता की खातिर लोग मुश्किल से नागरी लिपि सीखने को तैयार होंगे, किन्तु

दो लिपियों का बोझ स्वीकारने जितनी राष्ट्रीयता लोगों में विकसित नहीं हुई है। नागरी लिपि को ही सर्वमान्य करने के लिए उसमें कुछ जरूरी सुधार करने की कोशिश मैं कर रहा हूँ, उसमें मेरी शक्ति का अन्त आ गया है। उर्दू लिपि का प्रचार करना आसान नहीं। वह लिपि अधूरी है। कई बार उसमें लिखने की गलतियाँ हो जाती हैं। उच्चारण के साथ लिपि का पूरा मेल नहीं, इसलिए यह लिपि सार्वत्रिक हो नहीं सकती।''

कुछ मुसलमान साफ-साफ कहते हैं, ''हिन्दुस्तानी की आड़ में गांधीजी हिन्दी ही चलाना चाहते हैं; इसलिए हमें उसमें शामिल नहीं होना चाहिए।''

उत्तर भारत के हिन्दी वाले कहते हैं कि हिन्दुस्तानी की आड़ में उर्दू ही चलेगी।

काका साहब ने सारी परिस्थिति गांधीजी को समझा दी। लेकिन गांधीजी ने अपना आग्रह कायम रखा। काका साहब की मनोवृत्ति तो गांधीजी की आज्ञा के अनुसार चलने की थी। गांधीजी की नीति स्वीकार कर अमृतलाल नाणावटी के साथ हिन्दुस्तानी का काम जीवंत रखा। सन् 1935 के इन्दौर अधिवेशन में सारे भारत में हिन्दी का प्रचार करने के लिए 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की स्थापना करके इसका दायित्व काका साहब को सौंपा गया था।

पूर्व-पश्चिम भारत के आठ प्रांतों में राष्ट्रभाषा प्रचार का काम बरसों पहले करते समय काका साहब ने हर प्रांत में एक-एक संस्था स्थापित की थी। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन हिन्दी के प्रबल समर्थक थे। वह काका साहब के सहयोग से बहुत खुश थे। हिन्दुस्तानी शब्द और दो लिपि का स्वीकार—दोनों के वह विरोधी थे। काका साहब ने टंडनजी से कहा, ''इतना मौलिक और मूलगामी विरोध हो तो गांधीजी की प्रवृत्ति सम्मेलन के हाथ में नहीं रखी जा सकती, उसको स्वतंत्र करना होगा।''

टंडनजी का उत्तर था, ''सारी प्रवृत्ति आप ही ने संगठित की है। गांधीजी चाहें और पूरी प्रवृत्ति को सम्मेलन से अलग करें तो उसे मैं सहन करूँगा, किंतु गांधीजी की नई हिन्दुस्तानी नीति को हम कभी स्वीकार नहीं कर सकेंगे।''

टंडनजी ने कैसे भी हो, भले ही लाचारी से सम्मति दी हो, उसके बाद काका साहब गांधीजी के पास पहुँचे और उनसे कहा, ''इस समय

आप हिन्दुस्तानी के प्रचार के बारे में मौन रहें तो अपनी आठ प्रांतों की प्रवृत्ति सम्मेलन से स्वतंत्र कर लेंगे। टंडनजी की सम्मति मैंने प्राप्त की है। वे सम्मेलन को समझाएँगे। स्वतंत्र होने के बाद इतनी बड़ी संस्था द्वारा हिन्दुस्तानी का प्रचार हम क्रमानुसार चलाएँगे। यह सारी संस्था यदि सम्मेलन को सौंप देंगे तो फिर सारे भारत में हिन्दुस्तानी के नाम से दो लिपि का प्रचार अशक्य होगा। मैं तो देशभर में आपकी बात लोगों को समझाऊँगा। किन्तु देश में यह बात जड़ नहीं पकड़ सकेगी। भारत की तमाम प्रादेशिक भाषाओं के लिए नागरी लिपि स्वीकार की जाए इस तरह का प्रयत्न मैं कर रहा हूँ। कर्नाटक में यह काम आरंभ हो चुका है। बंगाल में सख्त विरोध है, वहाँ हम नागरी लिपि में बंगाली साहित्य प्रकाशित करेंगे। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर से मैंने इजाजत भी ले रखी है। इस हालत में अखिल भारतीय एक लिपि प्रचार की जगह राष्ट्रभाषा के लिए दो लिपियों का प्रचार शक्य हो, ऐसा मुझे नहीं लगता।''

इतना समझाने के बाद भी गांधीजी ने काका साहब की बात नहीं मानी। उन्होंने काका साहब की यह विनती भी अस्वीकार कर दी कि जब तक वह आठ प्रांतों में राष्ट्रभाषा के प्रचार का काम सम्मेलन से स्वतंत्र करने की नीति स्वीकार करें तब तक वातावरण को क्षुब्ध न करें।

काका साहब के अनुसार, ''परिणाम यह हुआ कि देश में इस नीति का प्रबल विरोध हुआ और टंडनजी को अवसर मिल गया।''

टंडनजी ने गांधीजी से कहा, ''आठ प्रांतों का संगठन आपने किया और मैं मानता हूँ कि यह काका साहब की मेहनत का परिणाम है। किंतु यह सब आपने सम्मेलन के नाम से किया है और हिन्दी का काम है, यह कहकर किया है। इसलिए यह प्रवृत्ति आप हमें सौंप दें, उसी में न्याय है।''

गांधीजी ने जवाब दिया, ''यह काम आपको सौंपकर हम हिन्दुस्तानी के नाम से नयी प्रवृत्ति खड़ी करें तो आपको कोई आपत्ति होगी?''

टंडनजी ने प्रसन्नतापूर्वक कहा, ''आप जरूर एक नई संस्था खड़ी करें, उसको मैं आशीर्वाद दूँगा। हमारी प्रवृत्ति हमें वापस दे दीजिए तो काफी है।''

गांधीजी ने वैसा ही किया।

सन् 1942 में गांधीजी की अध्यक्षता में 'हिंदुस्तानी प्रचार सभा' की स्थापना की गई। लेकिन देश में उस समय विस्फोटक स्थिति पैदा हो जाने के कारण सभा का कार्य शुरू नहीं हो पाया। अगस्त 1942 में 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू होने से अन्य कार्य स्थगित हो गए। बाद में विनोबाजी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार केवल नागरी लिपि द्वारा करने के लिए प्रोत्साहन दिया।

14. भारत छोड़ो आंदोलन : भारत स्वतंत्र

काका साहब कालेलकर, आचार्य जीवतराम कृपलानी, पं. सुंदरलालजी जैसे महापुरुषों ने कॉलिज के दिनों में ही हिन्दुस्तान को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त करने का संकल्प किया था। काका साहब इसी संकल्प के कारण अपने समय के महान पुरुषों के सम्पर्क में आए। उन्होंने गंगाधरराव देशपांडे, बैरिस्टर केशवराव देशपांडे आदि गुरुजनों के सहवास में आने के बाद देश की उन्नति के कार्य किए। शांति निकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ काम करते हुए कर्मवीर मोहनदास करमचन्द गांधी से मिले तो बस उनके ही बनकर रह गए।

12 मार्च, 1930 को जब गांधीजी ने ऐतिहासिक 'दाँडी-कूच' किया तब काका साहब ने विद्यापीठ को भी उस अद्वितीय स्वातंत्र्य संग्राम में होम दिया। अमृतलाल नाणावटी ने लिखा है, "बापू अपने दाँडी-कूच में जब विद्यापीठ के रास्ते से गुजरे तब काका साहब ने उनको प्रणाम किया; उसका मैं साक्षी था। बापू ने काका साहब की पीठ पर जोर से हाथ ठोककर आशीर्वाद दिया। उस धन्यता का अनुभव करते हुए काका साहब ने मुझसे कहा—आजे बापूजीए मारी पीठ पर जोर थी धब्बो लगावी आशीर्वाद आप्यो।"

गांधीजी के सभी सत्याग्रह आंदोलनों में काका साहब भी जेल गए। अपनी जेल-यात्राओं में उन्होंने साहित्य की भरपूर सेवा की, विशेष रूप से गुजराती साहित्य की।

देश की आजादी के लिए आंदोलनों की कड़ी में 8 अगस्त, सन् 1942 को बम्बई में 'भारत छोड़ो' आंदोलन की घोषणा हुई। जिसमें अंग्रेजों को भारत छोड़ने की अंतिम चेतावनी का प्रस्ताव पास हुआ। देश के शीर्ष स्तर

के नेताओं को गिरफ्तार कर जेलों में बंद कर दिया गया। पूरे देश में अंग्रेजों का दमन-चक्र शुरू हो गया। काका साहब किसी तरह गिरफ्तारी से बचते हुए भारत छोड़ो आंदोलन का प्रचार करते रहे। अन्ततः सरकार ने उन्हें भी सलाखों के पीछे बंद कर दिया।

इस आंदोलन में गिरफ्तार नेताओं के संबंध में सरकार ने कोशिश की ये लोग किसी भी प्रकार से अपने प्रांतवासियों के सम्पर्क में न आ सकें। सरकार ने काका कालेलकर; विनोबा भावे, किशोरलाल मश्रुवाला आदि नेताओं को तीन साल के लिए तमिलनाडु की वेल्लोर नगर की जेल में डाल दिया। काका साहब अपनी प्रकृति के अनुसार यहाँ भी अध्ययन और लेखन का कार्य करते रहे। उन्होंने गीता, ज्ञानेश्वरी और खगोल विद्या का मनोयोग से अध्ययन किया।

काका साहब ने दो शब्दकोश भी तैयार किए। एक शब्दकोश 'गीता रत्नप्रभा' में उन्होंने गीता के तत्व ज्ञान की अर्थ-धन दृष्टि से महत्वपूर्ण शब्दों का संकलन किया तो दूसरा शब्दकोश गांधीजी द्वारा तैयार किए गए 'गीता पदार्थ कोश' के पदों में निहित शब्दों से संबंधित था। उन्होंने किशोरलाल मश्रुवाला के सहयोग से फिलीपाइंस द्वीप के कुष्ठ रोगियों के जीवन पर आधारित उपन्यास का गुजराती में अनुवाद किया। इसका नाम है 'मानवी खंडियेरो'। काका साहब ने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के लघु उपन्यास 'मालंच' का मराठी में अनुवाद तथा 'गीतांजलि' और 'नैवेद्य' की कई कविताओं की मराठी में व्याख्या लिखवाई।

जेल में ही काका साहब ने नागरी लिपि में सुधार करने की योजना पर कार्य करते हुए विनोबा भावे तथा किशोरलाल भाई के साथ सुधरी लिपि का प्रारूप तैयार किया।

काका साहब कुछ समय वेल्लोर जेल में रहे, बाद में मध्य प्रदेश के सिवनी स्पेशल जेल में भी रहे और यहीं से 1945 में मुक्त हुए।

15 अगस्त, 1947 को देश स्वतंत्र हुआ। काका साहब ने 61 साल की उम्र में गांधीजी के पुण्य प्रयत्नों से स्वातंत्र्य सूर्य का दर्शन करके स्वयं को धन्य किया। उनके जीवन के एक बड़े अध्याय का समापन हुआ। ऐसे असंख्य नवयुवकों ने, जिन्होंने इस स्वराज्य की प्राप्ति के लिए अपना जीवन अर्पण किया, स्वतंत्रता की देवी के दर्शन किए।

अमृतलाल नाणावटी ने लिखा है, "14 अगस्त, 1947 को हम असम जा रहे थे। मध्यरात्रि को हम पार्वतीपुर स्टेशन पर थे। उस समय सब रेलगाड़ियों के इंजिनों ने अपनी सीटियाँ बजाकर आजादी की घोषणा की और मैं अपने डिब्बे में से काका साहब के डिब्बे के पास 'आज मिल सब गीत गाओ' गाता हुआ पहुँचा। उन्होंने मुझे बुलाया, अपने पास बिठाया। सुबह की आश्रम प्रार्थना हमने की और 'आज मिल सब गीत गाओ' भजन मैंने गाया। प्रार्थना के अंत में काका साहब ने मुझे और सरोज बहन को अपनी जगह बैठे-बैठे अपनी दोनों बाँहों में एक साथ लेकर आलिंगन किया और धन्यता का जो अनुभव किया, उसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता।"

आजादी के समय देश में साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे थे जिनकी अग्नि में हजारों बेकसूर नागरिक स्वाहा हो गए। देश स्वतंत्र तो हुआ लेकिन स्वतंत्रता के साथ-साथ उसके दो टुकड़े भी भारत और पाकिस्तान के रूप में हो गए।

देश में बँटवारे से पहले और बाद में भी जो निर्मम हत्याकांड मचा था उसकी दुखद परिणति अंत में गांधीजी की हत्या में हुई। 30 जनवरी, 1948 को सायंकालीन प्रार्थना-सभा-स्थल पर जाते समय नई दिल्ली में गांधीजी को हत्यारे ने गोलियों से भून दिया। गांधीजी राष्ट्र की बलिवेदी पर शहीद हो गए। प्रत्येक युग में कोई न कोई ईसा सूली का आलिंगन करता ही है।

कुछ समय के लिए तो मानो समय के पैर भी थम गए थे। सारा देश उनकी मृत्यु से दिग्भ्रमित हो उठा था। कुछ समय बाद मार्च में सेवाग्राम, वर्धा में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें देशभर के अनेकों कार्यकर्त्ता एकत्रित हुए। गांधीजी की इच्छा थी कि रचनात्मक कार्य करने वाली अखिल भारतीय संस्थाओं को मिलकर एक संस्था के रूप में कार्य करना चाहिए। उनकी इच्छा का सम्मान करते हुए 'सर्वसेवा संघ' की स्थापना हुई। सम्मेलन में यह भी निश्चित किया गया कि सर्वोदय सम्मेलन का आयोजन हर वर्ष किया जाए।

अनुगुल (उड़ीसा) और शिवरामपल्ली (हैदराबाद) के ऐसे ही दोनों सम्मेलनों की अध्यक्षता काका साहब ने की थी।

सन् 1949 में 'गांधी स्मारक निधि' की स्थापना हुई और उसी के अन्तर्गत 'गांधी स्मारक संग्रहालय' अस्तित्व में आया और इसके संचालक नियुक्त किए गए काका साहब।

काका साहब ने संग्रहालय को दो भागों में बाँटा। एक भाग में वाचनालय और पुस्तकालय, जिसमें सम्पूर्ण गांधी साहित्य सुरक्षित रखा गया है। दूसरे भाग में गांधीजी को दिए गए मानपत्र, उनके चित्र, उनके द्वारा इस्तेमाल की गई वस्तुएँ, अनेक लोगों को लिखे पत्र या उनके फोटोस्टेट दर्शनीय हैं।

उसी वर्ष 1949 में ही भारतीय संविधान सभा ने नागरी में लिखी जाने वाली हिन्दी को संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकृति प्रदान की।

(भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 के अनुसार 'संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी'।)

गांधीजी की मान्यता को संविधान के निर्माताओं द्वारा पूरी तरह स्वीकार न किए जाने का असर हिन्दुस्तानी प्रचार पर पड़ा। लेकिन हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा ने विचार-विमर्श के बाद बापूजी के बताए रास्ते पर चलना ही उचित समझा।

काका साहब ने अपनी 'आत्मकथा' में स्पष्ट रूप से लिखा है, ''गांधी-निष्ठा के कारण मुझसे जितना हो सका उतना किया। एक मजे की बात यह है कि पं. सुंदरलालजी की सूचना के अनुसार दो लिपि वाली हिन्दुस्तानी का प्रचार शुरू करने के बाद मैंने उन्हें मदद के लिए बुलाया। उन्होंने ठंडे दिल से कहा, 'मैं तो अब दोनों लिपियाँ छोड़कर रोमन लिपि चलाने के पक्ष में हूँ।' मैंने अपने मन में समझा कि सारी स्थिति समय-समय पर सविस्तार समझाने के बाद गांधीजी ने जो नीति चलायी है, वही देश के लिए हितकर होगी।''

26 जनवरी, 1950 को भारत के गणराज्य बनने के बाद डॉ. राजेन्द्र प्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति बने। अब हिन्दुस्तानी प्रचार समिति का अध्यक्ष रहना उनके लिए संभव नहीं था अतः उन्होंने अध्यक्ष पद छोड़ दिया। उनके स्थान पर काका साहब अध्यक्ष चुने गए। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद समिति के सदस्य के रूप में सभा के काम में सहयोग देते रहे।

हिन्दुस्तानी प्रचार समिति की एक शाखा दिल्ली में भी खोलने का

विचार बहुत दिनों से चल रहा था। अंत में मई 1955 में 'गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा' के नाम से उस शाखा की स्थापना की गई। काका साहब ने भारत सरकार से सभा के लिए जमीन की माँग की। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और मौलाना आजाद की सिफारिश पर सन् 1956 में गांधी स्मारक निधि, राजघाट के निकट जमीन मिल गयी। उसी जमीन पर 'गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा' का वर्तमान भवन खड़ा है और इसको काका साहब ने नाम दिया 'सन्निधि'।

इससे पूर्व सन् 1951 में गांधी स्मारक संग्रहालय का कार्यालय दिल्ली में आने के कारण काका साहब भी स्थायी रूप से दिल्ली आ गए। अब वे भी 'सन्निधि' में रहने लगे।

भारत सरकार ने सम्पूर्ण गांधी साहित्य ऐतिहासिक क्रम से छापने का निश्चित करके इसके लिए 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय' विभाग खोला। इसकी सलाहकार समिति के काका साहब भी सदस्य नियुक्त किए गए।

काका साहब अनेकानेक सभा-समितियों और आयोगों के अध्यक्ष, सलाहकर एवं सदस्य रहे किंतु मौन या निष्क्रिय बनकर नहीं, उन्होंने सभी में सक्रिय भूमिका निभाकर महत्वपूर्ण योगदान दिया।

काका साहब ने कई पत्र-पत्रिकाओं का संपादन भी किया जिनमें 'मंगल प्रभात' विशिष्ट है। 'मंगल प्रभात' का प्रकाशन 26 जनवरी, 1950 के ऐतिहासिक दिन, 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' के मुखपत्र के रूप में प्रारंभ हुआ था। उस समय इस मासिक पत्रिका के सम्पादक काका साहब थे। सन् 1957 में 'मंगल प्रभात' साप्ताहिक और सन् 1959 में पाक्षिक हो गया। वर्तमान में इसके मासिक अंकों में काका साहब के लेखों और साहित्य का प्रकाशन इसकी विशेषता है।

काका साहब की विदाई के बाद 'मंगल प्रभात' और 'गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा' उनकी स्मृतियों को सँजोये उनकी रचनाओं, महत्वपूर्ण गतिविधियों और उनके ज्ञान का महाप्रसाद वितरण कर प्रशंसनीय भूमिका निभा रहे हैं।

15. राष्ट्रभाषा स्वरूप के अन्वेषक : शब्द-शिल्पी

काका साहब बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न थे। गांधीजी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के संसर्ग ने उन्हें सार्थक रचनात्मक कार्यकर्त्ता बना दिया था। काका साहब में अन्वेषक बुद्धि बचपन से ही थी। इसलिए उनके चिंतन में मौलिकता थी। शब्द में श्रद्धा और यंत्र में अनुरक्ति दोनों का समावेश उनके व्यक्तित्व में देखने को मिलता है।

श्रद्धा और अनुरक्ति के कारण ही उन्होंने नागरी लिपि में सुधार प्रस्तावित किए जो दुर्भाग्यवश स्वीकार नहीं किए गए।

नागरी लिपि का स्तर और प्रभाव रोमन लिपि से पिछड़ने न पाए इसलिए नागरी लिपि को वह अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। इस विचार को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपेक्षित सुधार और खोज की। इसी संबंध में 1935 के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन के समय लिपि सुधार समिति की अध्यक्षता गांधीजी की अनुमति से की थी।

गांधीजी ने कहा था—"अगर ऐसा करने से देश और हिन्दी का भला हो तो अवश्य यह बोझ उठाओ।

मैं भी पहले से चाहता ही हूँ कि भारत की सब भाषाओं के लिए नागरी लिपि ही चले। अगर इतना हो गया तो देश के लोगों का काफी समय बच जाएगा और भारत की भाषाएँ एक-दूसरे के नजदीक आसानी से आ सकेंगी।"

काका साहब ने गांधीजी की प्रेरणा से लिपि सुधार की दिशा में भगीरथ प्रयत्न किए। कई वर्षों तक प्रयासरत रहने पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने लिपि सुधार की बात को मान्यता प्रदान की। इस पर भी सम्मेलन का सुझाव था कि अभी उत्तर प्रदेश में इसका प्रचार नहीं किया जाए। इस

कार्य में काका साहब को श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन और बाबूराम सक्सेना जैसे भाषाविदों ने समर्थन दिया था।

सुधरी लिपि का प्रयोग समिति ने सर्वप्रथम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा द्वारा तैयार की गई पुस्तकों में किया। बाद में बम्बई (गुजरात, बम्बई और महाराष्ट्र तब एक थे) के हिन्दुस्तानी बोर्ड द्वारा अपनी पुस्तकों में इसका उपयोग किया गया। इस सुधरी लिपि में ही महात्मा गांधी की गुजराती आत्मकथा की एक आवृत्ति भी प्रकाशित की गयीं थी।
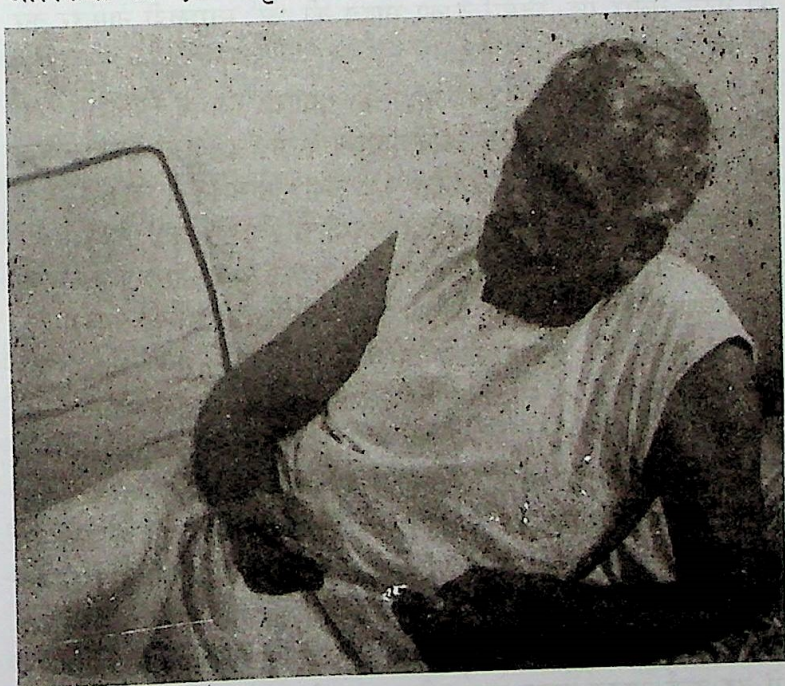
चिंतक काका साहब

'भारत छोड़ो' आंदोलन के समय जेल में ही काका साहब, विनोबाजी किशोरलाल भाई तीनों ने मिलकर नागरी लिपि का सुधरा रूप तैयार किया था, जिसमें मुख्य आधार 'अ' की स्वराखड़ी था।

प्रचलित स्वरों के स्थान पर जो रूप स्वीकार किया गया, वह था–'अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै, ओ, औ, अं, अः।' जबकि अ, आ, ओ, औ, अं, अः ये छह रूप तो पहले से ही चलन में थे। केवल ये छह रूप बदले

गए—अि (इ), अी (ई), अु (उ), अू (ऊ), अे (ए), अै (ऐ)।

काका साहब के आग्रह और गांधीजी के निर्देश पर नवजीवन प्रेस के व्यवस्थापक श्री जीवणजी देसाई ने सुधरी लिपि का प्रयोग 'हरिजन सेवक' में किया। उनका साहित्य उनके निधन के कुछ वर्षों बाद तक इसी लिपि में प्रकाशित होता रहा।

पं. गोविंद वल्लभ पंत द्वारा लखनऊ में सभी प्रांतों के मुख्यमंत्रियों की बैठक बुलाई गई, जिसमें काका साहब की 'अ' स्वराखड़ी नामंजूर कर दी गई।

सम्मेलन ने छोटी 'इ' की मात्रा को प्रचलित रूप के स्थान पर बड़ी 'ई' की मात्रा को थोड़ा छोटा करके प्रयुक्त करने का निर्णय लिया लेकिन वह रूप भी विद्यार्थियों को अनुकूल नहीं लगा। सम्मेलन में जो दूसरे कुछ रूप स्वीकार किए थे, वे भी हिन्दीभाषियों ने स्वीकार नहीं किए।

इस प्रकार हिन्दी भाषा-भाषियों द्वारा काका साहब द्वारा प्रचलित की गई सुधरी लिपि को अस्वीकार किए जाने से धीरे-धीरे इसका प्रयोग और प्रचलन समाप्त हो गया। काका साहब के सारे प्रयास विफल हो गए। अगर काका साहब के सुधार प्रस्ताव स्वीकार कर लिए जाते तो लिपि के प्रयोग में बहुत सुविधा हो जाती।

काका साहब ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए अंग्रेजी की तरह 'आशु लिपि' की जरूरत के विषय में भी विचार किया। आशु लिपि के होने पर उसे हिन्दी के टाइपराइटर पर टाइप करने की सुविधा भी जरूरी थी। उन्होंने गहराई और वैज्ञानिक ढंग से सोचा। सौभाग्य से उसी समय थाणा जिले के श्री गजानन दावके मराठी भाषा की आशु लिपि तैयार कर रहे थे। 1937-38 में वह वर्धा आकर काका साहब के पास रहने लगे। दोनों का एक विषय होने के कारण दोनों परस्पर सहयोग से इस दिशा में सक्रियता से काम करने लगे।

कौन-से अक्षर बार-बार प्रयोग में आते हैं ? उनके लिए टाइपराइटर में कहाँ स्थान होना चाहिए? उनके लिए कौन-सी उँगली का प्रयोग किया जाए और स्थिर कुंजी-पटल की क्या व्यवस्था हो? इन बातों पर सूक्ष्मता और सावधानी से विचार करने के बाद दोनों ने एक वर्णफलक (की-बोर्ड) तैयार किया। हिन्दी आशु लिपि के आधार पर टाइपराइटर पर टाइप करने

का प्रयोग काफी सफल रहा।

इस सफलता से उत्साहित समिति ने विद्यार्थियों के लिए वर्धा में हिन्दी आशु लेखन और टाइपराइटिंग की कक्षाएँ भी प्रारंभ कीं।

देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद सन् 1948 में केन्द्र सरकार द्वारा नागरी आशु लिपि और टंकण यंत्र (टाइपराइटर) के लिए बनाई गई समिति के काका साहब अध्यक्ष नियुक्त किए गए। उनके नेतृत्व में समिति द्वारा एक योजना तैयार की गई। काफी समय बाद सरकार ने जनता के विचार जानने के लिए उसे प्रकाशित किया। उस आधार पर दूसरी भाषाओं की विशेष ध्वनियों को अपनाने और टंकण की सुविधा के लिए लिपि में कुछ सुधार स्वीकार किए। उसी के अनुसार कुंजी-पटल (की-बोर्ड) या टाइपराइटर का वर्ण-पटल तैयार किया गया। लिपि का वही सुधरा हुआ रूप अब मान्य है। जिसमें समय-समय पर जरूरत के अनुसार आवश्यक संशोधन किए जाते रहे हैं।

सन् 1935-48 में काका साहब ने 'नागरी-टाइप' पर कार्य किया। नागरी टाइपों की कम्पोजिंग तीन मंजिला होती है जबकि अंग्रेजी में एक ही मंजिल होती है। अंग्रेजी में ऊपर-नीचे मात्राएँ नहीं लगतीं जबकि नागरी में यह सुविधा नहीं है। जैसे क, स आदि की एक मंजिल, के, से आदि की दो मंजिल और कुं, सुं आदि की तीन मंजिल। नागरी को भी अंग्रेजी जैसी सुविधाजनक बनाने के लिए उन्होंने पूना जाकर एक कलाकार से शिरोविहीन नागरी के सुंदर अक्षर बनवाए जिसमें मात्राओं को लगाने की व्यवस्था अक्षर के बराबर में (बाजू में) की गई थी। टाइपों को ढलवाकर छपाई के योग्य बना दिया गया। हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, दिल्ली में कभी इसका उपयोग किया गया था।

राष्ट्रभाषा हिन्दी की शब्द-सम्पदा बढ़ाने के लिए 'सबकी बोली' में उन्होंने कई लेख लिखे। काका साहब का मानना था कि विदेशी शब्दों के स्थान पर अपने यहाँ ही स्वदेशी शब्द पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। उन देशी शब्दों को लोक-सुलभ शब्द बनाकर प्रयोग में लाना चाहिए। काका साहब की मान्यता थी—''जब देश का कारोबार देशी भाषा में चलाने का निश्चय हो चुका है तब देश को अपनी टकसाल खोलनी ही चाहिए।

हम अपनी भाषा का खयाल किए बिना ही उनके नए-नए शब्दों को

ज्यों-का-त्यों अपना लेते हैं। यह दिमागी गुलामी ही हमसे अपनी भाषा के प्रति विद्रोह का पाप कराती है। जिसमें अपनी भाषा के नए-नए शब्दों को गढ़ने की शक्ति, अभ्यास और प्रतिभा है उन्हीं को यह अधिकार है कि परभाषा के भण्डार से कितने और कौन-से शब्द लिए जाएँ, इसका निर्णय कर दें और यह भी कि अपनी भाषा में जो चल सकें ऐसे नए शब्द बना लेना, उन्हें चलाना और उनका प्रचार करना, ये अलग-अलग शक्तियाँ हैं। दोनों शक्तियों का जब हमारी जाति में विकास होगा तभी हम सच्चे भाषा-भक्त कहलाने के अधिकारी होंगे।''

बहुभाषाविद् होने के नाते काका साहब ने मराठी, गुजराती और हिन्दी में तो विशाल साहित्य रचा ही है, उनका कोंकणी, कन्नड़, बाँग्ला और अंग्रेजी से भी गहरा परिचय था। उन्होंने अंग्रेजी के हजारों शब्दों के सार्थक और रोचक पारिभाषिक शब्द गढ़े हैं। उदाहरणस्वरूप कुछ शब्द प्रस्तुत हैं—

अल्बम	—	चित्र मंजूषा
आर्डर-आर्डर	—	अदब-अदब, व्यवस्था
आर्ट ऑफ रिपोर्टिंग	—	नारदकला
एरियल	—	विद्युत्पाश या पाश
कास्टिंग वोट	—	तुलसीपत्र (रुक्मिणी ने जब श्रीकृष्ण की तुला की तब एक पलड़ा भारी करने के लिए उन्होंने उसमें तुलसी-पत्र रख दिया)
आलपिन	—	नथनी
पिक्चर गैलरी	—	विथिका या चित्रवीथि
कॉलबैल	—	किंकिणी
डस्टर	—	पुच्छन
लाउडस्पीकर	—	रावण (विश्रव्स ऋषि का लड़का, पैदा होते ही वह इतने जोर से चिल्लाया कि पिता ने उसका नाम रावण रख दिया)
रिपोर्टर	—	नारद
टार्च	—	करदीपक या चमकी

रेडियो	—	श्रावक
क्यू	—	कतार
वेटिंग-रूम	—	यात्रीघर
डायरी	—	वासरी
गेम सेंक्चुरी	—	अभयारण्य

राष्ट्रभाषा हिन्दी को भारत जैसे महान और विशाल देश के योग्य भाषा बनाने, उसकी शब्द-सम्पदा में अभिवृद्धि के लिए काका साहब ने जो अथक प्रयत्न किए वे प्रशंसनीय और वंदनीय हैं।

16. चिरप्रवासी : सांस्कृतिक राजदूत

काका साहब कालेलकर आयुष्यभर प्रवास करते रहे। ठहर जाना, बासी व्यक्तित्व के साथ जीना उनके स्वभाव और प्रकृति के प्रतिकूल था। गांधीजी ने काका साहब को 'सुधारातीत घुमक्कड़' (Incorrigible Nomed) कहकर संबोधित किया था। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार के लिए वे सारे भारत में घूमते रहते थे। निर्मल जल के प्रवाहं जैसा उनका प्रवाहीपन था। पानी रुकता है या रोका जाता है तो बीमार (गंदा) हो जाता है। काका साहब भी पवित्र गंगा की धारा के समान बहते रहे, बहते रहे।

मानव जीवन की यात्रा पूरी करने के बाद ऋषितुल्य पुरुषोत्तम संभवतः अब भी अपनी अनन्त यात्रा जारी रखे होंगे।

चरैवेति-चरैवेति उनकी जीवन-यात्रा का महामंत्र बन गया था। काका साहब ने स्वयं लिखा है, "जिस प्रकार वर्षा के शुरू होते ही साँड अपने सींगों से जमीन खोदकर उसे सूँघने लगता है उसी तरह यात्रा का अवसर प्राप्त होते ही मनुष्य के पैर बिना पूछे चलने लगते हैं। यदि कोई उससे पूछता है–'कहाँ चले!' तो वह कह देता है–मैं कुछ नहीं जानता। जहाँ तक जा सकूँगा, चला जाऊँगा। जाना, चलना, नई-नई अनुभूतियाँ प्राप्त करना, बस इतना ही मैं जानता हूँ। आँखें प्यासी हैं, शरीर भूखा है, इसलिए पैर चलते हैं, इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता। अर्थात् 'कालोह्यं निरवधि' मानकर 'विपुला पृथ्वी' की परिक्रमा पर निकल पड़ना ही मेरा उद्देश्य है।"

उनकी आत्मा मुक्त आकाश में उड़ान भरने को सदैव व्याकुल रहती थी। काका साहब के लिए प्रयुक्त 'चिरप्रवासी' शब्द सर्वथा उपयुक्त है। गांधीजी के आदेश पर गुजरात विद्यापीठ से बँधे लेकिन अवसर मिलते ही बंधनमुक्त होकर चल पड़ें–अनन्त-असीम यात्रा पर।

सन् 1912 में उन्हें देश की आजादी के पथ की तलाश थी तो उनका आध्यात्मिक आनंदपूरित मन हिमालय की दौड़ लगा रहा था। सन् 1913 से 1972 तक देश-विदेश के असंख्य पथ उनकी यात्रा के साक्षी रहे हैं। काका साहब का हिमालय, नदियों और प्रकृति के कण-कण से अनन्य प्रेम रहा है।

उन्होंने प्रवाहमयी सरिताओं से चिरयात्री रहने की प्रेरणा पाई तो नक्षत्रों से दिशा-ज्ञान प्राप्त किया।

हिमालय के प्रति उनका आकर्षण इतना अधिक था कि दुर्गम और विकट मार्गों के कष्टों को सहते हुए भी वे उसकी ओर खिंचे चले गए। उन्होंने जितना भ्रमण अपने देश में किया उससे भी अधिक विदेश की यात्राएँ कीं। लेकिन उनकी यात्राएँ सैलानी की तरह भ्रमण मात्र नहीं थीं अपितु भारतीय संस्कृति के अग्रदूत की यात्राएँ थीं। वह जहाँ भी जाते वहाँ की
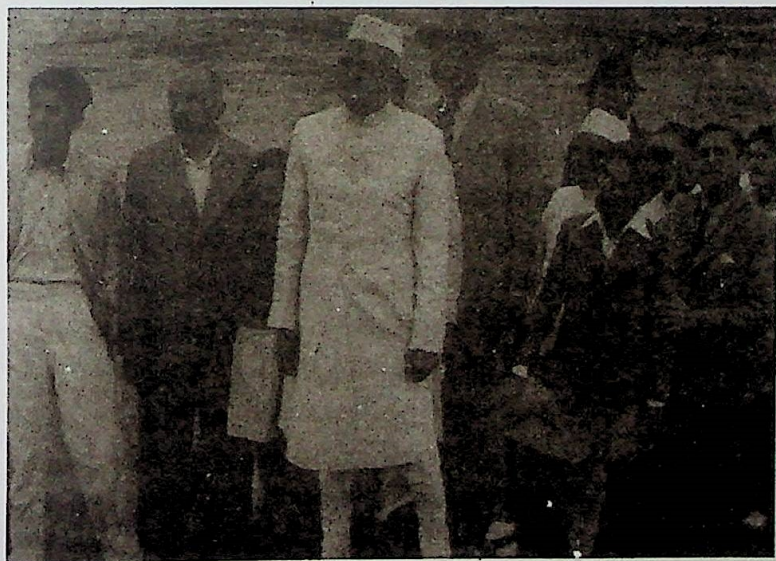
पूर्वी अफ्रीका में काका साहब

संस्कृति में से ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करते और अपनी संस्कृति के उपादेय तत्वों को उस देश को अर्पण करते। काका साहब ने कहा भी है, ''यदि जीवन में यौवनपूर्ण प्राण हो तो उस अज्ञात का आमंत्रण टाले नहीं टलता। अज्ञात का पीछा करना, उसका अनुभव करना, उस पर विजय पाकर

उसे ज्ञात बनाना ही जीवन का बड़े-से-बड़ा आनंद और अच्छे-से-अच्छा पौष्टिक अन्न है। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा अज्ञात पर एक प्रकार की विजय प्राप्त की जा सकती है और यात्रा दूसरे प्रकार की। यात्री ज्यों-ज्यों यात्रा करता जाता है त्यों-त्यों वह अपने चातुर्य का विकास करता है और अंत में अच्छे-से-अच्छा समाजशास्त्री बनता है।''

हिमालय के बारे में काका साहब ने लिखा है, ''हिमालय का वैभव दुनिया के तमाम सम्राटों के समस्त वैभव से बढ़कर है। हिमालय हमारा वही महादेव है, सारे विश्व की समृद्धि को आबाद करते हुए भी अलिप्त, विरक्त, शांत और ध्यानस्थ। हिमालय जाकर उसे ही हृदय में ध्यानस्थ कर लेने की जिसकी शक्ति हो, उसने ही जीवन पर विजय पाई। ऐसे को अनन्त प्रणाम।''

हिमालय तथा भारत के अन्य अनेक पावन स्थानों की यात्राओं के अलावा भी उन्होंने गांधीजी के साथ हिन्दी के प्रचार के लिए समस्त भारत की यात्रा की। समुद्र, आकाश, नदी, प्रपात, वृक्षों तथा हरी-भरी घाटियों के आकर्षण के लोभ से उनका मन कभी भी उन्मुक्त नहीं हो सका, भले ही वह कितने ही महत्वपूर्ण कार्य में व्यस्त रहे हों।

भारत सरकार द्वारा विदेशों से संबंध मजबूत करने की दृष्टि से 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद' की स्थापना की गई थी। उस समय उसके अध्यक्ष मौलाना आजाद थे और काका साहब उपाध्यक्ष थे। तभी उन्होंने सन् 1950 में मई से अगस्त तक पूर्वी अफ्रीका की यात्रा की। अफ्रीका-प्रवास के अपने अनुभवों का वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक 'उस पार के पड़ोसी' में संकलित किया है। अपनी अफ्रीका यात्रा के संदर्भ में उन्होंने लिखा है, ''हिन्दू संस्कृति का सच्चा रहस्य समझने के बाद संसार के सारे धर्मों के प्रति आदर का भाव पैदा होने के बाद जैसे सारे धर्म मुझे सच्चे, अच्छे और अपने ही लगते हैं, वैसे ही संसार के सारे देश मुझे भारत भूमि के जैसे ही पवित्र और पूज्य मालूम होते हैं। अतः जिस भक्तिभाव से मैं सेतुबंध रामेश्वर से लेकर हिमालय तक की यात्रा कर सका, उसी भक्तिभाव से अफ्रीका देखने की इच्छा हुई। दुनिया की सारी नदियाँ मेरे ही सगे-सम्बन्धियों की लोकमाताएँ हैं, हरेक सरोवर मानसरोवर जितना ही पवित्र है। हरेक पर्वत हिमालय जितना ही देवात्मा है। हरेक नदी का उद्गम ईश्वर

क आशीर्वाद जैसा ही शुभ और श्रेयस्कर है, ऐसी दृढ़ भावना लेकर ही मैं अफ्रीका देखने निकला।"

जिन दिनों काका साहब ने अफ्रीका की यात्रा की, उन दिनों वहाँ भारत के प्रतिनिधि श्री अप्पा पंत थे। उन्होंने काका साहब की यात्रा का

पूर्वी अफ्रीका में काका कालेलकर, अप्पा पंत, कमलनयन बजाज

आकलन इस प्रकार किया है—"मनुष्य-मनुष्य के बीच स्नेह के संबंध का विकास करने में धर्म, वंश, संस्कृति या जाति के भेद कभी बाधक नहीं हुए हैं...अपनी-अपनी सभाओं में—अंग्रेज, अफ्रीकी, भारतीय और अरबी श्रोतागणों के सामने काका साहब इस विषय के संबंध में अत्यन्त सौन्दर्य

के साथ हृदय को छू जाने वाली भाषा में अपने विचारों का विकास करते रहे। वह मराठी, गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी में बोलते थे। वह एक कवि की तरह बोलते थे, एक माता के वात्सल्य से बोलते थे। सौम्यभाषी, ताजे विचार, चित्रों को दर्शाते—जो सुनने वालों को स्पर्धा, हानि, लाभ, सत्ता-संघर्ष और दुर्दशा की दुनिया से कहीं दूर उड़ा ले जाते।''

पश्चिम अफ्रीका यात्रा में नीग्रो नेता के साथ काका साहब

''अफ्रीका में बसने वाले भारतीयों ने काका साहब की स्पष्ट दृष्टि के द्वारा प्रथम बार अनुभव किया कि अफ्रीकी मनुष्य के हृदय में भी सौन्दर्य और स्नेह बसते हैं...जिस तरह अफ्रीकी लोग जोमो केन्याटा, न्येरेरे, म्बोया जैसे नेता से लेकर अशिक्षित नौकरों तक काका साहब के प्रवचनों को मंत्र-मुग्ध होकर सुनते थे यह देखने योग्य दृश्य था। उनमें से अधिकांश व्यक्ति समझ भी नहीं पाते थे कि क्या कहा जा रहा है किन्तु उन सबके लिए काका साहब 'वातु अमुंगु' (भगवान् के संदेशवाहक) थे...वह मानवीय संस्कृति के पोषक थे। विश्वभर के युगों की समस्त संस्कृति उनकी विरासत थी। ऐसी विशाल दृष्टि का विरोध कौन कर सकता है, विशेषकर जब इतने

सादे और ज्वलंत शब्दों में समझाया जाए। सन् 1950 में भारत-अफ्रीका के सम्बन्धों का श्रीगणेश हो रहा था। किसी और से अधिक काका साहब ने ही इस विकास काल को नया और मार्मिक आयाम दिया।''

(समन्वय के साधक, पृ. 51)

काका साहब सही अर्थों में भारत के सांस्कृतिक राजदूत थे।

काका साहब ने 1951 में सितम्बर से नवंबर तक पश्चिमी यूरोप और अफ्रीका के गोल्डकोस्ट, नाइजीरिया और मिस्र देश की यात्राएँ कीं।

जापान यात्रा में महास्थविर निचिदात्सु फुजीई तथा जापानी भिक्षुओं के साथ काका साहब, सरोजिनी नाणावटी

1954 के मार्च-अप्रैल मास में वह पहली बार जापान गए। जापान तो उनका दूसरा ही घर बन गया था। वहाँ पर आयोजित विश्व शांति परिषद में वह गांधी स्मारक निधि के प्रतिनिधि बनकर गए थे। जापान में गांधीजी के सिद्धांतों में आस्था रखने वाले बौद्ध साधु निचिदात्सु फुजीई गुरुजी से उनके संबंध बहुत घनिष्ठ हो गए। काका साहब के आग्रह पर गुरुजी ने

सन् 1958 में दो विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ने भारत भेजा, जिन्होंने पाँच साल तक भारत में प्रवास किया। दूसरी बार वह सन् 1957 में अणु बम विरोधी शांति परिषद् के अवसर पर जापान गए। सन् 1954 से 1972 तक वह छह बार जापान की यात्रा पर गए।

अमरीका में नाइत्स दम्पति के साथ काका साहब, सरोजिनी नाणावटी

1958 में काका साहब चीन, थाइलैंड और कम्पूचिया गए। सन् 1958 में ही 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्' की ओर से सांस्कृतिक आदान-

प्रदान कार्यक्रम के अन्तर्गत जून-जुलाई में दक्षिण अमेरिका, वेस्टइण्डीज, ब्रिटिश गियाना, सूरीनाम और त्रिनिदाद की यात्रा पर गए।

अमेरिका जाकर भी वहाँ के कुछ दर्शनीय स्थानों का अवलोकन किया और नीग्रो नेता मार्टिन लूथर किंग से भी भेंट की। इस भेंट के विषय में श्रीमती मेरी कुसिंग नाइत्स ने लिखा है, ''डॉ. किंग ने महात्मा गांधी के विचार और कार्य का और अहिंसा द्वारा परिवर्तन लाने की संभावना का गहरा अध्ययन किया था। अब पहली बार अहिंसा की तकनीक पर गहराई में उतरकर चर्चा करने का अवसर मिल रहा था—एक ऐसे नेता के साथ जिन्होंने भारत के ब्रिटिश राज्य से मुक्ति दिलाने वाले अहिंसक आंदोलन में सक्रिय योगदान दिया था।''

जापान यात्रा में काका साहब

काका साहब मिस्र, इटली, पश्चिमी जर्मनी, बेल्जियम, इंग्लैंड, मॉरीशस, रियूनियन और मेडागास्कर की यात्राओं पर भी गए।

सन् 1961 के दिसम्बर मास में भारत ने गोवा को पुर्तगाली शासन

से मुक्त कराया था। तब जापान के फुजीई गुरुजी ने काका साहब को जापान आने का निमंत्रण इन शब्दों में दिया था, "नेहरू सरकार ने, जो हमेशा समझौते का रास्ता अपनाने का प्रचार करती थी, ऐसा कदम क्यों उठाया, यह जापान की प्रजा समझना चाहती है।"

यह निमंत्रण मिलने पर काका साहब तीसरी बार मई 1962 में जापान गए और लोगों को भारत सरकार के दृष्टिकोण से परिचित कराया। इसी वर्ष जुलाई में विश्व शांति परिषद् में भाग लेने के लिए वह रूस गए। वहाँ गोर्की इंस्टीट्यूट में काका साहब के साथ सरोजिनी बहन, असम के सुप्रसिद्ध साहित्यकार नीलमणि फूकन और साहित्यकार विष्णु प्रभाकर भी थे।
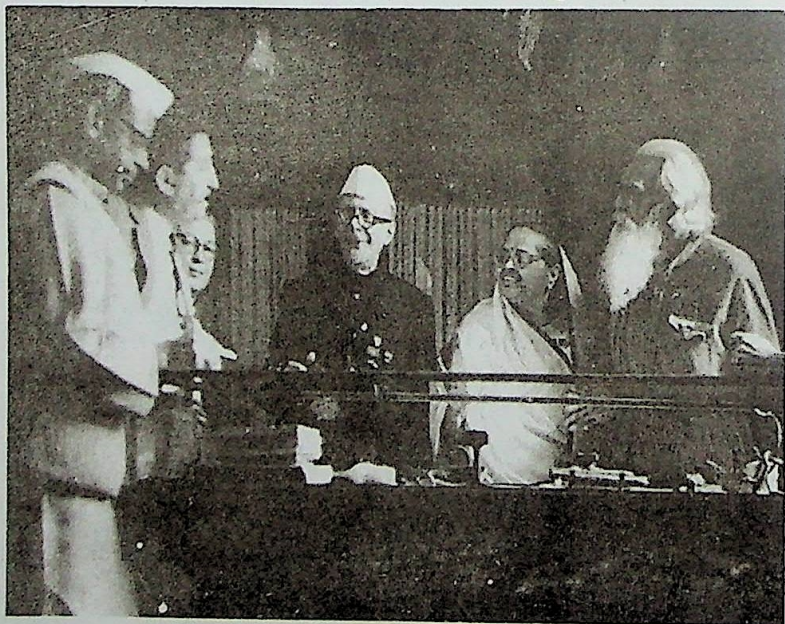
विष्णु प्रभाकर के साथ रूस यात्रा में चिरप्रवासी

चिरप्रवासी काका साहब के प्रवासों और अनुभवों का कोइं अंत नहीं है। दादा धर्माधिकारी के शब्दों में, "अविश्रांत और अश्रांत पथिक हैं, निरंतर तीर्थयात्री हैं...उनकी यात्रा में प्रयोजन और लक्ष्य दोनों हैं। उनका गंतव्य स्थान परमपद है, जिसका मार्ग अनन्त है।"

इस कृति के लेखक ने सन् 1979 में सन्निधि में काका साहब के

दर्शनों का लाभ प्राप्त कर अपने को धन्य किया। 21 अगस्त, 1981 उनके महाप्रयाण तक उस ऋषि के दर्शनों और प्रवचनों का महाप्रसाद बराबर मिलता रहा। 94-95 वर्ष की आयु में भी उन्हें बिस्तर पर पड़े रहना या स्थिर होकर बैठना पसंद नहीं था। तब भी वे गांधी दर्शन के भवन तक तथा सन्निधि के परिसर में सरोजिनी बहन और कुसुम बहन का सहारा लेकर भ्रमण करते थे और धीमे स्वर में अपने ज्ञान से लाभान्वित करते रहते थे।

चिरप्रवासी काका साहब को एक स्थान पर बँधकर रहना कभी रास नहीं आया। तभी तो 96 वर्षों तक मृत्यु के साथ आँख-मिचौली खेलते

रूस यात्रा यास्नाया पोलियाना—1962

काका साहब तथा सरोजिनी नाणावटी

रहे। मानव जीवन की यात्रा पूरी करने के बाद ऋषितुल्य काका साहब संभवतः अब भी अपनी अनन्त यात्रा जारी रखे होंगे।

काका साहब लड़कियों के लिए भी देश की यात्रा करना जरूरी समझते

थे। कुसुम शाह ने काका साहब के विचारों पर आधारित अपनी पुस्तक 'नये-नये अनुभव' में लिखा है, "काका साहब ने लड़कियों को समझाया कि देश की यात्रा किए बिना पढ़ाई पूरी नहीं होती। इसी सिलसिले में काका साहब ने जलगाँव की एक कन्या शाला में अपना व्याख्यान देते हुए कहा, 'सुदूर पूर्व भारत में आसाम का प्रदेश है। वहाँ अच्छे-अच्छे घर की लड़कियों को भी कपड़ा बुनना नहीं आता तो उनकी शादियाँ नहीं हो सकतीं। सबसे पहले देखा जाता है कि लड़की कपड़ा कैसा बुनती है? बाद में दूसरी बातें सोची जाती हैं। मेरा चले तो मैं कहूँगा कि जिस लड़की ने पाँच सौ या हजार मील की मुसाफिरी नहीं की उसकी शादी नहीं होनी चाहिए'।"

सारांश यह कि संसार के लोगों को अधिक से अधिक यात्रा करनी चाहिए तभी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सच्चे अर्थों में सार्थकता है तथा विश्व के जन-गण में उदारता, मानवता, प्रेम, भाईचारे और जागरूकता के गुणों का विकास होगा। चिरप्रवासी और अनन्त यात्री काका साहब का संदेश भी यही है।

17. साहित्य सर्जक

साहित्य समाज का दर्पण है। इसलिए सच्चा और सत् साहित्य व्यक्ति-निष्ठ होते हुए भी उसका प्रभाव सार्वभौम होता है। साहित्य के द्वारा आनंद, संतोष, बुद्धि की प्राप्ति और जीवन की समृद्धि होती है।

काका साहब मराठी, गुजराती और हिन्दी तीनों भाषाओं के उत्कृष्ट लेखक थे। मराठी उनकी जन्मभाषा (मातृभाषा) थी। बाद में वे गुजराती में अबाध साहित्य रचना करके 'सवाई गुजराती' बन गए। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार का उत्तरदायित्व मिलने पर उन्होंने हिन्दी में भी विपुल साहित्य लिखा।

देश के एक बड़े और विरल साहित्यकार होते हुए भी स्वयं को साहित्यकार कहलाने में वह संकोच का अनुभव करते थे। उनका बड़प्पन और विनम्रता उनके इन शब्दों में झलकती है, "मैं साहित्यसेवी नहीं हूँ। साहित्योपासक भी नहीं हूँ। साहित्य-प्रेमी अवश्य हूँ। साहित्य का महत्व मैं जानता हूँ। वह बुद्धि को प्रगल्भ करता है, भावनाओं को सूक्ष्म बनाता है, धर्म-बुद्धि को जाग्रत करता है। हृदय की वेदना को तेजस्वी बनाता है, लयभाव विकसित करता है और आनंद को स्थायी बनाता है। इस कारण साहित्य के प्रति मेरे मन में आदर है। पर अपनी निष्ठा मैंने साहित्य को अर्पित नहीं की। साहित्य मेरा इष्ट देवता नहीं है। साहित्य का स्वीकार मैं एक साधन के रूप में ही करता आया हूँ और चाहता हूँ कि वह एक साधन के रूप में हमेशा रहे। तुलसीदासजी के मन में हनुमानजी के प्रति आदर था पर उनकी निष्ठा तो श्री रामचन्द्रजी के प्रति ही अर्पित थी। उसी तरह मैं चाहता हूँ कि हमारी उपासना जीवन की ही हो। साहित्य इस जीवनरूपी प्रभु की सेवा करने वाले अनन्य भक्त की जगह रहे। यही उसकी

शान है।''

साहित्य की व्याख्या काका साहब ने इस प्रकार की, ''मैं तो उसका (साहित्य का) व्यापक अर्थ ही करता हूँ। जो भी विचार, अनुभव या कल्पना वाक्य में ग्रथित हो सकता है, वह है साहित्य। जिन शब्द-समूहों में से कुछ अर्थ निकलता है वह सब साहित्य ही है।''

''समाज बिगड़ने से उसका साहित्य अवश्यमेव बिगड़ता है, क्योंकि साहित्य सामाजिक जीवन का प्रतिबिंब है। किंतु बिगड़े हुए साहित्य के पठन से सामाजिक जीवन विकृत बन जाए, यह तो सबसे बड़ी हानि है।''

''साहित्य एक जबरदस्त शक्ति है। मनुष्य की अभिरुचि। उसके आदर्श और उसकी संयम-शक्ति पर साहित्य जबरदस्त असर करता है। ...साहित्य के लिए समाज में स्वच्छ और खुली हवा होनी चाहिए, जिससे रोग के जन्तु उसमें जी न सकें, पनप न सकें। लेकिन साहित्य को अपनी उच्च अभिरुचि कभी नहीं छोड़नी चाहिए। क्योंकि सच्चा साहित्य दुनिया की नीतिमत्ता को सँभालता है। उसके विकास में मदद करता है और चतुर्विध पुरुषार्थ की साधना में सबसे बड़ी मदद करता है।''

हिन्दी को अपनाने के लिए काका साहब ने दो कारण बताए—एक तो हिन्दी की नागरी लिपि संस्कृत की लिपि है जो भारत में सब जगह प्रचलित है। दूसरा कारण है हिन्दी को देश के सभी प्रांतों के संतों द्वारा अपनाया जाना। उन्होंने लिखा है, ''चीन, जापान, बर्मा, श्रीलंका, इंडोनेशिया आदि देशों के साथ हमारा सम्पर्क आज अंग्रेजी के द्वारा बढ़ रहा है। इसमें सहूलियत चाहे जितनी हो, एशिया के लिए शाप रूप ही है। एशियाई संस्कृति जैसी चीज पर अंग्रेजी के कारण हमारा विश्वास ही नहीं बैठता।''

राष्ट्रभाषा के रूप में अंग्रेजी न होकर हिन्दी को ही क्यों मान्यता देते हैं? इस संदर्भ में उनका कहना है, ''अंग्रेजी जानने वाले लोग अपनी एक अलग जाति बनाते हैं, दूसरी भाषा सीखते ही नहीं। अपनी-अपनी जनभाषा तो बचपन से ही सीखनी पड़ी, नहीं तो उसे भी नहीं सीखते।''

भाषाओं के संबंध में रवीन्द्र केलेकर से उन्होंने कहा था, ''मेरे लिए सभी भाषाएँ एक-सी प्रिय और पूज्य हैं। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारी भी भूमिका यही रहे। तुम कोंकणी की सेवा करते हो, मराठी की भी करो। हिन्दी तो हम सबकी है। पुर्तगाली तुम जानते हो। इस भाषा का सारा बढ़िया साहित्य

हिन्दी, मराठी में ले आओ। इस बहु-भाषिक देश में हर एक को बहु-भाषिक बनना है। सर्वधर्म समभाव की तरह सर्वभाषा समभाव–समभाव ही नहीं, ममभाव हमारी नीति होनी चाहिए।''

हिन्दी को वे समन्वय की भाषा मानते थे और राष्ट्रभाषा हिन्दी के अतिरिक्त यह क्षमता किसी अन्य भाषा में नहीं है। इसीलिए हिन्दी के माध्यम से वे 'एकात्म' साधना चाहते थे। काका साहब हिन्दी से बहुत गहराई तथा मन से जुड़ गए थे। यद्यपि वे हिन्दी के साथ-साथ सभी भाषाओं में भी उत्कृष्ट साहित्य ही चाहते थे। उत्तम साहित्य की व्याख्या उन्होंने कुछ इस प्रकार से की है, ''साहित्यस्य भाव साहित्यम्। लिखी हुई कोई भी चीज हो–लेख हो, पत्र हो, पुस्तक हो, सुभाषित हो, विचार हो, जो हमारे जीवन का साथ दे, साथी, दोस्त, सहायक के रूप में हमें सहाय रूप हो, अथवा सहाय रूप हो रहा है ऐसा हमें लगे, उसे मैं साहित्य कहता हूँ। जिस तरह धूप, दीप, नैवेद्य, गंध, अक्षत, फूल पूजा का साहित्य है। उसी तरह जो विचार-राशि शब्दबद्ध होकर हमारे जीवन का साथ देने आती है वह साहित्य है। इस तरह का साहित्य निर्माण करने की शक्ति हर एक के पास नहीं होती लेकिन ऐसे साहित्य का सेवन करने की शक्ति तो हर एक के पास होनी चाहिए। एक दफा मैंने मनुष्य की व्याख्या, जो साहित्य-प्रेमी है वही मनुष्य है, इस तरह की थी।''

(जंगम विद्यापीठ में : रवीन्द्र केलेकर, पृ. 35)

उत्तम कवियों का आकलन करते हुए काका साहब ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं, ''उत्तम कवियों के मैंने दो वर्ग किए हैं। एक है 'शब्द कवि' और दूसरे 'जीवन कवि'। दोनों में भावना की उत्कटता समान होती है। प्रकृति और मानवता दोनों के साथ वे एक-से एक प्राण हो सकते हैं। लेकिन शब्द कवि अपनी पूरी अनुभूति कविता के द्वारा व्यक्त करता है, जबकि जीवन कवि अपने सम्पूर्ण जीवन में, चिंतन और लोक-व्यवहार में अपने हृदय के काव्य को जीकर बताता है। यह जीवनकवि जब लिखने लगता है तब उसका गद्य भी काव्यमय बनता है...जहाँ अनुभव समृद्ध हो वहाँ उसका प्रकटीकरण काव्य में होना ही चाहिए।''

काका साहब की निबंध पुस्तक 'जीवन-व्यवस्था' 1965 में सर्वश्रेष्ठ गुजराती कृति के रूप में साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत हुई थी।

साहित्य साधक के रूप में उनके पाँच रूप देखने को मिलते हैं–प्रचारक, पत्रकार, पत्र-लेखक, टीकाकार और सर्जक।

काका साहब ने कई भाषाओं की कई पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया। हिन्दी पत्रिकाओं में प्रमुख हैं–'सर्वोदय', 'सबकी बोली' तथा 'मंगल प्रभात'। उन्होंने 'नवजीवन' (गुजराती) और 'यंग इंडिया' का भी कुशल सम्पादन किया। उनके पास ज्ञान का अथाह भण्डार था। उसमें से उदारतापूर्वक वे समाज में बाँटते रहे। दादा धर्माधिकारी के शब्दों में, "उनके पास ज्ञान का अखण्डित स्रोत था। कामधेनु की तरह उसकी वाग्धारा अप्रतिहत रूप से प्रवाहित होती रहती।"

काका साहब ने जिन पत्रिकाओं का सम्पादन किया वे विशिष्ट विचारधारा की महत्वपूर्ण पत्रिकाएँ थीं। 'मंगल प्रभात' पत्रिका का उन्होंने पच्चीस वर्ष तक सम्पादन किया जिसके अंकों में प्रायः उन्हीं के जीवनोपयोगी लेख रहते थे।

भाषाविद् होने के कारण काका साहब ने उत्कृष्ट सम्पादक और उत्तम साहित्य सर्जक के रूप में साहित्य जगत में अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी है।

पुरुषोत्तम श्रीराम के चरित्र के विषय में दो पंक्तियाँ उद्धृत हैं–

"राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है"

इसी प्रकार काका साहब के सम्पूर्ण साहित्य का पठन-पाठन करने वाले किसी भी सामान्य जन के हृदय में भी साहित्य के अंकुर अनिवार्य रूप से प्रस्फुटित हो ही जाएँगे–ऐसा है काका साहब का ललित साहित्य।

पत्र-लेखक के रूप में भी काका साहब अद्वितीय थे। पत्रों के उत्तर में अपना हृदय उँडेलकर स्नेह और विनोद के भावों का समावेश कर देने में पारंगत थे। ज्ञान और प्रेरणा से परिपूर्ण उनके पत्रों में आशा और उमंग का संचार रहता था।

उनका अपनी पुत्रवधू से कई विषयों पर पत्र-व्यवहार हुआ, उन पत्रों का एक संकलन बम्बई सरकार ने पुरस्कृत भी किया था।

काका साहब का एक रूप टीकाकार का भी था। दूसरी भाषाओं के साहित्य में जो अच्छा लगा, उसे अपनाया और अनुवाद भी किया। कवि हृदय और सौंदर्य के प्रति आकर्षण उन्हें विश्वकवि रवीन्द्रनाथ के परम भक्त

होने के कारण मिला। उन्होंने रवि बाबू के उपन्यास 'मालंच' का मराठी में अनुवाद किया।

काका साहब ने 'गीतांजलि' के गीतों की भी व्याख्या की। उनकी यह पुस्तक मराठी, गुजराती और हिन्दी तीनों भाषाओं में अत्यन्त लोकप्रिय हुई।

मुंबई में परमानंद कापड़िया और काका साहब प्रसन्न मुद्रा में

गांधी परिवार में उन्हें संस्कृति का परिव्राजक और चलता-फिरता विश्वकोश कहा जाता था।

गुजराती, हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी में उनकी एक सौ बीस से अधिक कृतियों का साहित्य मानवता की सेवा में समर्पित है।

18. समन्वय के साधक

काका साहब का सारा जीवन समाज और राष्ट्र का जीवन बन गया था। काका साहब को संस्कृति के परिव्राजक, समन्वय संस्कृति के प्रतीक, संस्कृति के अखंड दीप, सांस्कृतिक राजदूत, विश्व संस्कृति के संदेशवाहक आदि विशेषणों से विभूषित किया जाता है।

काका साहब समन्वय की प्रतिमूर्ति थे। उनके लिए सभी जाति के, सभी धर्मों के, सभी संस्कृतियों के और सभी देशों के लोग एक थे। समन्वय संस्कृति के प्रकाश-दीप के लिए यह स्वाभाविक भी है। काका साहब कहते हैं, "जीवन व्यक्ति का हो, राष्ट्र का हो या समस्त मानव जाति का, संघर्ष टालकर उत्कर्ष–सिद्धिप्रद समन्वय ही उसे समर्थ और कृतार्थ करेगा। संस्कृति का पूर्वार्द्ध है संघर्ष और सहयोग। उत्तरार्द्ध है समन्वय।"

काका साहब ने समन्वय के साधना मार्ग पर चलकर अपना ही नहीं, अपने सम्पर्क में आए अनेकानेक लोगों के जीवन को सफल बनाया। विनोबाजी भी मानते हैं–"हम विश्व मानव हैं, किसी देश-विशेष के अभिमानी नहीं, किसी धर्म-विशेष के आग्रही नहीं, किसी सम्प्रदाय या जाति-विशेष के बंदी नहीं। विश्व के सद्विचार उत्थान में विहार करना हमारा स्वाध्याय होगा, सद्विचार को आत्मसात् करना हमारा अभ्यास होगा और विरोधों का निराकरण करना हमारा धर्म होगा। विशेषताओं से सामंजस्य करके विश्ववृत्ति का विकास करना हमारी वैचारिक साधना होगी।"

भारतीय संस्कृति की विशेषता है–विविधता के बीच एकता की। भारत एक प्राचीन और विशाल देश है। अतः धर्म, संस्कृति, इतिहास, भूगोल, भाषा, साहित्य, कला, आचार-विचार, रहन-सहन आदि में विविधता होना स्वाभाविक है। भारतीय संस्कृति ने इस विविधता को यथारूप रखते हुए

अपनी समन्वय-बुद्धि और कौशल से उसे एकता के सूत्र में पिरो दिया।

भारत की आत्मा एक और अखण्ड है तो भारतीय संस्कृति की समन्वय भावना अभूतपूर्व है। श्रद्धेय काका साहब का जीवन इसी समन्वय साधना का अनुपम दृष्टांत है। महर्षि टालस्टाय ने भी लिखा है, "एक ही मनुष्य के अनेक व्यक्तित्व होते हैं, जिनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है। ये व्यक्तित्व अपने प्रभुत्व के लिए प्रायः आपस में टकराते हैं। जीवन के संतुलित विकास के लिए इन व्यक्तित्वों के मध्य संघर्ष नहीं, समन्वय होना आवश्यक है।"

काका कालेलकर, डॉ. राधाकृष्णन्, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

काका साहब के व्यक्तित्व के अनेक रूप हैं—वे शिक्षाशास्त्री हैं, विद्वान हैं, लेखक हैं, भाषाविद् हैं, राष्ट्रभाषा के उन्नायक हैं, सर्वधर्म समभाव के पोषक हैं, पर्यटक हैं आदि-आदि, लेकिन उनके किसी एक रूप को सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानकर उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। बस यही कहना उपयुक्त होगा कि उन्होंने सभी रूपों को समान अवसर देकर उनके बीच समन्वय की वृत्ति रखी।

उन्होंने पुरातन के उत्तम को अपनाया और नवीनता के गुणों को भी हृदय से अंगीकार किया।

काका साहब की दृष्टि अपने देश की सीमाओं तक ही सीमित नहीं रही। गांधीजी और गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर के संसर्ग, मौलिक चिंतन और देश-विदेश की यात्राओं के कारण उनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय से अंतर्राष्ट्रीय बन गया। जाति, धर्म, भाषा, प्रांत, राष्ट्र से ऊपर उठकर वे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के समर्थक हो गए। वे सबके और सब उनके बन गए।

निर्मल हृदय के काका साहब का जीवन एक साधक का रहा है। साधक कभी रुकता नहीं, स्थिर होकर बैठता नहीं। वह तो उपनिषद् की 'चरैवेति-चरैवेति' की प्रेरणा के अनुसार निरंतर चलता जाता है। काका साहब भी अनेकों आक्षेपों और विरोधों को सहते हुए निर्भीकता और दृढ़ता से अपने गंतव्य पथ पर बढ़ते रहे।

तभी तो काका साहब ने कहा था कि "जब तक मेरी जीवन-यात्रा तेजी से चलती है, 'बुढ़ापा' और 'मौत' मुझे पा नहीं सकते।"

समन्वय उनकी प्रधान जीवन साधना रही। तभी तो उन्होंने विद्यापीठ में बौद्ध धर्म के विश्व-विख्यात पंडित श्री धर्मानंद कोसंबी, जैन धर्म के प्रखर ज्ञाता सुखलालजी और पंडित बेचरदासजी जैसे निष्णातों और मूर्धन्य विद्वानों को बुलाकर धर्मों का गहरा अध्ययन प्रारंभ कराया। पवित्र कुरान पढ़ा और इस्लाम का मर्म समझा। बाइबिल का भी अध्ययन किया।

सरोजिनी नाणावटी ने इस संबंध में लिखा है, "काका साहब के साथ भारत-भर में और देश-विदेशों में प्रवास करने का सौभाग्य मुझे मिला है। हमने अपने देश के श्री शाह सलीम चिश्ती ख्वाजा साहब की दरगाह जैसे अनेक पवित्र स्थानों में और इजिप्ट, अफ्रीका और वेस्टइन्डीज तक की मास्जिदों में कुरानशरीफ का पहला सूरा (अध्याय) अल् फातिहा पढ़ा है। जर्मन, फ्रांस, इंग्लैंड, अमरीका के जगविख्यात चर्चों में और कैथीड्रलों में बैठकर ईशु भगवान् का ध्यान किया है। अमृतसर के स्वर्ण मंदिर जैसे अनेक गुरुद्वारों में पवित्र ग्रंथ साहब सुना है। और भव्यातिभव्य मंदिर में भी प्रार्थना की है। काका साहब को मैंने हर जगह पर एक ही तरह ध्यानमग्न होते देखा है।"

जापान के एक विद्वान बौद्ध भिक्षुक ने कहा, "काका साहब, आपके

साथ बात करते हुए हम भूल ही जाते हैं कि आप जापानी नहीं हैं और अंदर के सब सवाल आपके सामने रख देते हैं।''

ऐसे उद्गार, काका साहब की समन्वय की धन्यता के सच्चे गुणगान हैं। यह काका साहब के लिए ही नहीं· अपितु हर भारतवासी के लिए गौरव की बात है—जहाँ की पावन धरती ने काका साहब जैसे समन्वय साधक को जन्म दिया।

काका साहब की जैसी गहरी भक्ति और आस्था हिमालय के प्रति थी उसी प्रकार की भक्ति और आस्था की दृष्टि से उन्होंने फुजीयामाको और किलिमांजारो जैसे पर्वतों को निहारा। जिस श्रद्धाभाव से उन्होंने गंगा-यमुना को नमन किया उसी भाव से वे नील और रहायन के समक्ष भी नतमस्तक हुए।

काका साहब के दृष्टिकोण की इस व्यापकता और उनके हृदय की विशालता ने उन्हें 'समन्वय के साधक' की संज्ञा से विभूषित कराया। 'समन्वय' की यह भावना लोककल्याणकारी और मंगलकारी है जो मानव हृदय को अलौकिक आनंद से सरोबार कर देती है।

''समन्वय ही युगधर्म है'' इस महावाक्य की उन्होंने उद्घोषणा की और अपने जीवन का महामंत्र भी बनाया।

19. काका साहब : परिवार और समाज

काका साहब एक व्यक्ति न रहकर संस्था रूप हो गए थे। काका साहब का अपना निजी कुछ शेष नहीं रह गया था, जो भी था, समाज और राष्ट्र को समर्पित था।

काका साहब में विश्वकवि और राष्ट्रपिता दोनों की विशेषताएँ समाहित थीं। वे सच्चे साधक थे। वे गुणों की खान थे। फिर भी देवत्व की उपाधि से विभूषित न करके उन्हें पुरुषोत्तम कहना अधिक उपयुक्त होगा।

काका साहब का गृहस्थ जीवन बहुत जल्दी खत्म हो गया था। उनकी आयु चवालीस वर्ष की थी तभी उनकी पत्नी लक्ष्मीबाई का सन् 1929 में राजयक्ष्मा (तपेदिक) से निधन हो गया। उनकी आयु भी उस समय मात्र चालीस वर्ष की ही थी। उन्हें सब काकी के नाम से पुकारते थे। वे दो पुत्रों की यशस्वी माँ थीं। काका साहब के साथ कुछ विषयों पर उनका मतभेद भी रहता था। फिर भी पति की मान्यताओं को उन्होंने स्वीकारा और उनसे एकरूप होने की पूरी कोशिश भी की। काका साहब को कारावास की सजा होने पर काकी पहले ही जेल की गाड़ी में जाकर बैठ गई थीं।

आश्रम में रहते हुए वहाँ के जीवन को आत्मसात करने का उन्होंने भरपूर प्रयास किया और कुछ सीमा तक उन्हें सफलता मिली भी। लेकिन अपने संस्कारों पर आधारित विचारों के कारण पूर्ण सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती थीं और दृढ़ता से अपने सिद्धांतों पर टिकी रहती थीं। यहाँ तक कि गांधीजी के सामने भी वे कभी नहीं झिझकीं और गांधीजी उनके तर्कसंगत उत्तर को स्वीकार करने में संकोच नहीं करते थे।

काका साहब से तो उनका तर्क-वितर्क चलता ही रहता था। उनके पुत्र बाल कालेलकर ने अपने संस्मरणों में माँ के प्रति श्रद्धा और प्रेम व्यक्त

करते हुए लिखा है, ''मुझे अब भी याद है कि माँ पिताजी के साथ किस प्रकार तर्क-वितर्क किया करती थीं। उन्हें सुनकर लगता था कि वह किसी कट्टर हिन्दू परिवार की स्त्री हैं। पिताजी को अपने पक्ष के लिए गांधीजी की सहायता लेनी पड़ती थी। इन विचार-विनिमयों के फलस्वरूप आखिर माँ इस बात से सहमत हुईं कि अस्पृश्यता निवारण करना ब्राह्मणों का कर्तव्य है।''

लक्ष्मीबाई कालेलकर (काकी) महाराष्ट्र के जमींदार परिवार की सुशील कन्या, काका साहब के उच्च और विशाल परिवार में नववधू बनकर आईं। पति के विद्याभ्यास जारी रखने के कारण गृहस्थ जीवन तत्काल संभव नहीं था। काका साहब उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु पूना में रहते थे। लक्ष्मीबाई अपने पति की बुद्धि और सोच पर अभिमान करते हुए अपने-आपको पति की सच्ची अर्धांगिनी बनने के लिए तैयार कर रही थीं।

काका साहब को भी वकील, बैरिस्टर या समाज का अन्य कोई प्रतिष्ठित पद प्राप्त करने का लोभ-मोह नहीं था। सच्चे देशभक्त होने के कारण सब-कुछ त्यागकर वे बने—मातृभूमि के स्वातंत्र्य सेनानी।

देशभक्ति की प्रबल भावना के कारण ही उन्हें गृहस्थ जीवन का सुख, स्नेह, माधुर्य का अवकाश नहीं मिला। लक्ष्मीबाई भी देशभक्ति के रंग में रँगकर सच्चे अर्थों में पति की सहधर्मचारिणी बन गईं। अपने अप्रतिम स्नेह से भी वे सबकी 'स्नेहमयी काकी' हो गईं।

काका साहब के दोनों पुत्र सतीश (शंकर) कालेलकर तथा बाल कालेलकर अपने माता-पिता के आज्ञाकारी, कृतज्ञ तथा उनकी महानता के प्रति नतमस्तक रहे। वे दोनों गांधीजी की दाँडी-यात्रा में भी सम्मिलित रहे, अतः उन्हें भी बंदी बना लिया गया। उन्हें साबरमती जेल में एक अलग स्थान पर रखा गया था। जेल में एक दिन सुपरिंटेंडेंट के ऑफिस का लिपिक उन्हें अपने साथ ले गया और उन्हें ग्रंथालय के कमरे में जाने को कहा। सतीश कालेलकर लिखते हैं, ''हम उसमें दाखिल हुए और वहाँ हमने किसको देखा! एक व्यक्ति पुस्तकों में लीन थे। मात्र घटनावश किन्तु सत्य ही वह थे काका साहब। मुदित नेत्रों से हम दोनों को उन्होंने गले लगाया और भावविभोर स्वर में कहा, 'मैं तुम दोनों को कैदियों के इन धारीदार वस्त्रों में देख लेना चाहता था। मुझे गर्व है मेरे बच्चो और मुझे बड़ी खुशी है

कि तुम दोनों अब गांधीजी की सेना के नियमित सिपाही बन गए हो'।''

यह गर्व काका साहब को जीवनभर रहा।

दोनों पुत्रों ने उच्च शिक्षा प्राप्त की। सतीश कालेलकर बीस वर्ष भारत सरकार के विदेश विभाग में कार्य करने के उपरांत सेवा-निवृत्त हुए।

बाल कालेलकर, भारत सरकार के 'डायरेक्टर जनरल ऑफ टेक्निकल डेवलपमेंट' के उच्च पद पर क़ार्य करते हुए सेवा-निवृत्त हुए। विधि की विडम्बना कि काका साहब को उनासी वर्ष की आयु में एक हृदयविदारक घटना को झेलना पड़ा। उनके इस छोटे पुत्र बाल का हृदय-गति रुक जाने से 26 मई, 1974 को निधन हो गया। इस भयानक और भयातुर घटना की असीम वेदना को सहते हुए काका साहब स्थितप्रज्ञ हो गए। ऐसा नहीं कि इस वज्रपात ने उन्हें विचलित नहीं किया हो, किन्तु शिव के समान पुत्र की मृत्यु के शोक को पीकर शांत और स्थिर हो गए। शोक की विभीषिका को उग्र न बनाकर उसे अपने विराट रूप में समाहित कर लिया।

काका साहब ने एक हरिजन बालक को गोद लिया था। वह बालक तथा इमाम साहब की बेटी अमीना बेन रसोई बनाने में सहायता करते थे। काका साहब जाति, धर्म आदि के भेदभाव से बहुत ऊपर उठ चुके थे। उनकी इस भावना को लेकर पुत्रों के साथ उनका मतभेद भी हो जाता था।

काका साहब एक अद्वितीय शिक्षक-पिता थे। इस संबंध में गुलाम रसूल कुरैशी का यह संस्मरण द्रष्टव्य है, ''सन् 1927-28 के वर्ष की बात है। साबरमती आश्रम की सायं प्रार्थना हो चुकी थी। आश्रमवासी अपने निवास-स्थान पर वापिस लौट रहे थे। उसी समय काका साहब के कमरे में दो-चार मित्र बैठे ज्ञान-गोष्ठी कर रहे थे।

काका साहब का छोटा लड़का बाल वहाँ मौजूद था। अपनी बालवय की जिज्ञासा भरी दृष्टि से बाल ने कहा—'काका, हम रोज अखबार देखते हैं। इसमें दंगे-फसाद की बातें आया करती हैं। आज इतने हिन्दू मरे। आज मुसलमानों ने यहाँ-वहाँ हमले किए। इतने हिन्दू घायल हुए। हम ये बातें अब कहाँ तक पढ़ा करेंगे? बेहतर यह न होगा कि हम सब मिलकर एक साथ मुसलमानों को खतम कर डालें?'

'चलो', काका साहब ने कहा, 'ठीक तो है। हम पहले कहाँ से शुरू करें?' आगे बोले, 'पहले हम इमाम साहब से शुरू करें।' बाल फौरन बोल

उठा, 'नहीं काका, वह तो हमारे बड़ौल (बुजुर्ग) हैं। बापू के सहोदर भाई हैं। हम उन्हें कैसे मार सकते हैं?'

बेटे बाल को खिलाते काका साहब

काका ने कहा, 'अच्छा, चलो फिर अमीना को मार डालें।' बाल चिल्ला उठे और कहने लगे, 'नहीं-नहीं काका, वह तो हमारी बहन होती है। उनकी हत्या नहीं हो सकती।'

तब काका साहब बोले, 'देखो बाल! हम सब आपस में बहन-भाई हैं। हमारे व्यक्तिगत संबंध घनिष्ठ होने से हम एक-दूसरे को भली-भाँति पहचानते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक भारतीय दूसरे भारतीय का भाई या बहन है। हमारी कमनसीबी है कि इस मसले को हम पूरी तरह समझ नहीं पाए और आपस में झगड़ते रहते हैं'।''

काका साहब स्वभावगत एक प्रखर शिक्षाशास्त्री थे। अतः अपने बाल के क्षणभर के लिए विकृत हुए बाल-मानस को मिनटों में बदल दिया।

काका साहब के बड़े बेटे सतीश का परिणय-बंधन चन्दन के साथ हुआ था। चन्दन काका साहब की प्रिय और मेधावी छात्रा थी। चन्दन और सतीश का विवाह अंतर्जातीय अंतर्धर्मीय और अंतर्प्रांतीय था। काका

साहब ने अपनी पुत्रवधू को बहुत सारे पत्र लिखे थे, जिनमें चन्दन द्वारा विभिन्न विषयों पर पूछे गए प्रश्नों के काका साहब ने मुक्त भाव से उत्तर दिए थे। जो सराहनीय एवं आश्चर्यचकित कर देने वाले थे। उन पत्रों का संग्रह 'चि. चन्दन के नाम' से कृति रूप में प्रकाशित हुआ था। सन् 1960 में मुंबई सरकार ने काका साहब की इस पुस्तक को उस वर्ष का राज्य पुरस्कार प्रदान किया था।

उन्होंने अपने पोते-पोतियों के प्रति भी यथाशक्ति अपने कर्तव्य का निर्वाह किया। बाल की पत्नी के निधन के बाद काका साहब अपनी आयु और अपना काम विस्मृत कर काफी समय तक उनके घर पर रहे और दो छोटे-छोटे बच्चों की देखभाल में समुचित सहयोग प्रदान किया।

काका साहब की यह करुणा और वात्सल्य भावना परिवार तक ही सीमित नहीं थी अपितु पूरा समाज ही उनका परिवार था। बच्चों के साथ बच्चा बनना काका साहब को खूब आता था। शास्त्रों के अनुसार, 'ब्राह्मणः पांडित्यै निर्विध बाल्येन तिष्ठासेत'—विद्वानों को अपनी विद्वता भूलकर बालक समान रहना चाहिए।

काका साहब की अपनी कोई बेटी नहीं थी। सन् 1939-40 में कुमारी रेहाना बहन तैयबजी और कुमारी सरोजिनीं बहन नाणावटी उनकी पुत्री बनकर उनके पास आकर रहने लगीं। कुमारी रेहाना बहन की मृत्यु 17 मई, 1975 को हो गई। वह अब्बास तैयबजी की बेटी थीं।

सरोजिनी बहन, पूना के न्यायमूर्ति धीरजलाल नाणावटी की बेटी थीं जो बाद में काका साहब की निजी सचिव बन गई थीं। काका साहब के प्रयाण के पश्चात् वे भी समन्वय की साधिका के रूप में संलग्न रहीं। 85 वर्ष की आयु में 8 अगस्त, 1995 को उनका देहावसान हो गया।

गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा की वर्तमान सचिव कुसुम शाह काका साहब की मशाल को प्रज्वलित किए हुए हैं। वे काका साहब की अन्यन्य सेविका रही हैं। काका साहब भी उनको अपनी प्यारी बेटी मानकर अगाध स्नेह करते थे।

इनके अतिरिक्त भी देश-विदेश में काका साहब की असंख्य पुत्र-पुत्रियाँ भारतीय संस्कृति की रीढ़ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को जीवंत किए हुए हैं।

20. सहयोग, दायित्व और सम्मान

काका साहब कालेलकर के बहुआयामी, विराट एवं विशाल व्यक्तित्व को—'वे एक में सब-कुछ थे' छोटे वाक्य में कहा जा सकता है। धरती और आकाश में जो कुछ शुभ और स्वच्छ है, वह एक साथ एक ही व्यक्ति में देखा जाए तो वह व्यक्ति थे—काका साहब।

बौद्धिक और आध्यात्मिक स्तर पर गांधीजी को जिन लोगों ने योगदान दिया उनमें काका कालेलकरजी का स्थान बहुत ऊँचा है। शिक्षा के क्षेत्र
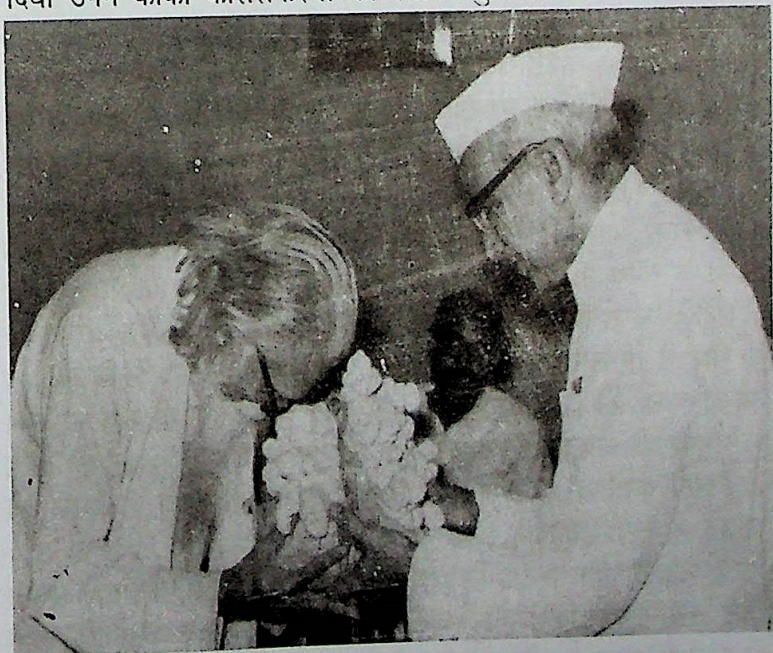
काका साहब को सूतांजलि अर्पित करते उच्छगराय ढेबरभाई

में काका साहब ने योगदान देकर अपने जिस उत्तरदायित्व को निभाया उसकी तुलना अन्य किसी से नहीं की जा सकती। गांधीजी द्वारा स्थापित गुजरात विद्यापीठ का संचालन करते हुए उन्होंने अनेक युवकों को देशसेवा के लिए तैयार किया, जिन्होंने जगह-जगह गांधी आश्रम खोलकर राष्ट्रीय शिक्षा दी और समूचे देश में जागृति पैदा करने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

राष्ट्रभाषा के प्रचार को तो उन्होंने अपना जीवन-ध्येय ही बना लिया था।

राष्ट्र के 'तिरंगे झंडे' को गांधीजी की देन कहा जा सकता है। गांधीजी के कारण ही राष्ट्रीय झंडे के बारे में अंदरूनी झगड़े उभर नहीं पाए। उनके समय में ही राष्ट्रध्वज जन-जन के हृदय में स्थान बना चुका था। सन् 1917 के कांग्रेस अधिवेशन में एक 'राष्ट्रध्वज समिति' बनाई गई थी। किंतु कुछ मतभेदों तथा अन्य कारणों से उसकी एक भी बैठक नहीं हो पाई। उन्हीं दिनों एक झंडावंदन का कार्यक्रम बेलगाम में काका साहब के करकमलों द्वारा सम्पन्न हुआ था। उस समय अपने भाषण में काका साहब ने झंडे की जो रूपरेखा बनाई थी, उसके अनुसार ही कांग्रेस में राष्ट्रीय झंडे का स्वरूप तय हुआ। झंडे के रंगों का संबंध जाति या धर्म से न जोड़ते हुए गुणों से जोड़ने का काका साहब ने महत्वपूर्ण मार्गदर्शन किया था।

सूत कातना, खादी पहनना और खादी के तत्वज्ञान को समझाने का काम काका साहब ने अपने भाषणों और लेखों के माध्यम से किया था। खादी के संबंध में उन्होंने कहा, "खादी एक वस्तु नहीं है; वह एक विचार है। बुद्धि का समाधान न होते हुए भी कोई विचार कोई व्यक्ति अन्धश्रद्धा से मान ले तो समझना चाहिए कि वह कम विचारशील है। 'कलियुग' को मानने वालों की तरह 'यन्त्र युग' के मानने वाले लोग भी होते हैं। यंत्र ने मनुष्य की अक्ल कुचल डाली है। यन्त्र पर काम करने वालों की बुद्धि तेज नहीं बनती है।" उनके ऐसे विचारों का प्रभाव खादी के प्रचार को बढ़ाने में बहुत सहायक होता था।

सत्याग्रह, अस्पृश्यता निवारण, स्त्री शक्ति की महत्ता, गोरक्षा, समन्वय जैसे सिद्धांतों और विचारों का स्पष्टीकरण और अनुकरण करके काका साहब ने गांधीजी को व्यावहारिक योगदान देकर अपने उत्तरदायित्वों का यथाशक्ति निर्वाह किया।

गांधी स्मारक संग्रहालय के साथ जुड़कर सन् 1951 में वह दिल्ली आ गए और दिल्ली के ही हो गए। क्योंकि जीवन के अंतिम तीस वर्ष वे विश्व भ्रमण करते रहे किंतु उनकी गतिविधियों का केन्द्र दिल्ली ही रहा।
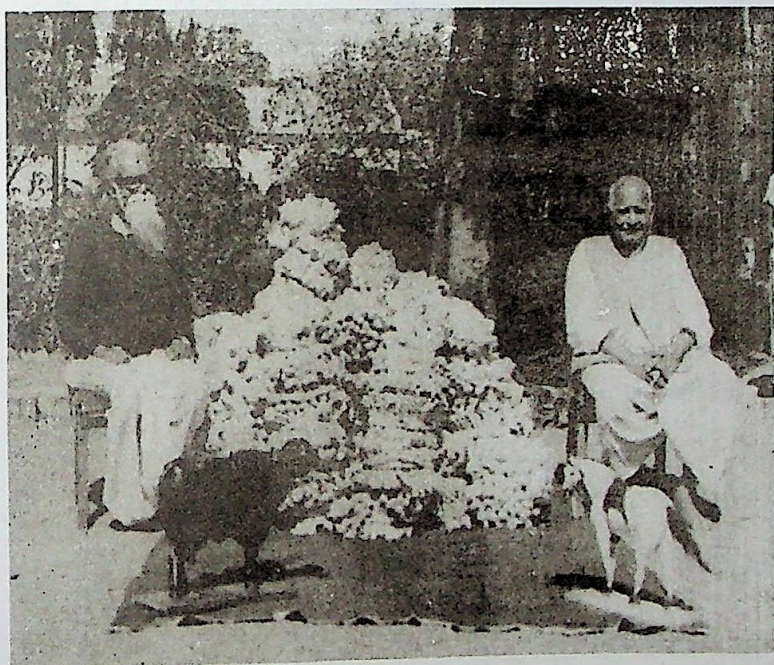
86वें जन्मदिन (1970) पर अखिल भारतीय सूतांजलि से सम्मानित काका साहब, साथ में नारायणदास गांधी

काका साहब ने दिल्ली आकर भारत सरकार द्वारा सौंपे गए अनेक कार्यों एवं उत्तरदायित्वों को कुशलतापूर्वक सँभाला। सन् 1948 में हिन्दी आशु लिपि और टंकण यंत्र समिति के अध्यक्ष तथा भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के उपाध्यक्ष नियुक्त किए गए। संबंध परिषद् से जुड़कर उन्होंने भारत तथा दूसरे देशों के सम्बन्धों को दृढ़ करने का दायित्व कुशलतापूर्वक निभाया।

सन् 1952 में काका साहब को वरिष्ठ साहित्यकार एवं शिक्षाशास्त्री के रूप में राष्ट्रपति द्वारा राज्यसभा के लिए मनोनीत किया गया। अप्रैल 1964 तक बारह वर्ष वे संसद सदस्य रहे। इस अवधि में भारत सरकार

ने उन्हें सन् 1953 में 'पिछड़ी जाति आयोग' का अध्यक्ष नियुक्त किया। दो वर्ष तक उन्होंने भारत का दौरा करते हुए विषय का गंभीर अध्ययन किया, जिसके आधार पर सन् 1955 में आयोग ने अपना प्रतिवेदन (सिफारिश) सरकार को प्रस्तुत किया लेकिन सरकार ने उसे अस्वीकृत कर दिया।
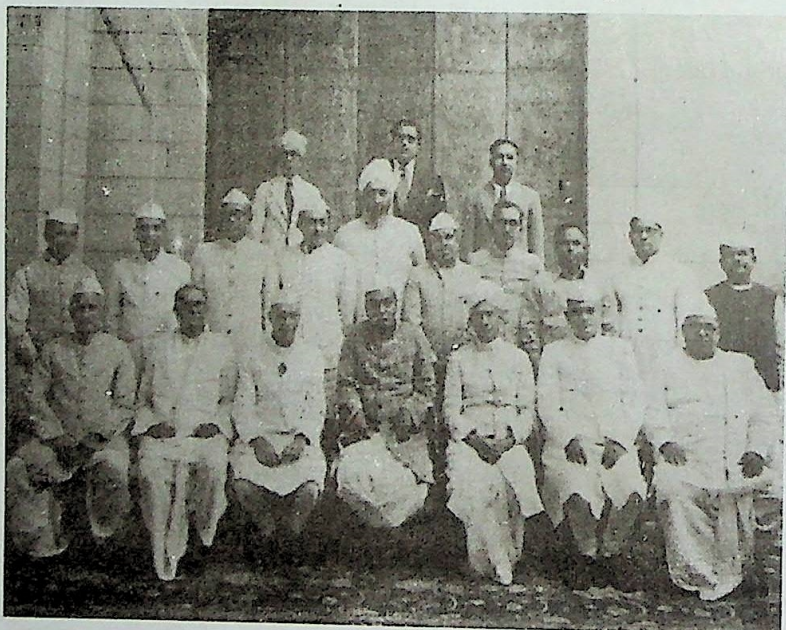
भारत सरकार के बैकवर्ड क्लासेस कमीशन के नेताओं के साथ काका साहब

सन् 1960 में सरकारी हिन्दी विश्व कोश के सदस्य तथा 1967 में वेड़छी में गांधी विद्यापीठ के अध्यक्ष नियुक्त किए गए। गुजराती साहित्य को उनकी अनुपम देन के लिए अभिनंदनस्वरूप उन्हें सन् 1960 में 'गुजरात साहित्य परिषद' का अध्यक्ष बनाया गया।

काका साहब ने आजीवन एक रचनात्मक कार्यकर्त्ता की तरह अपनी भूमिका निभाई। देश ने उनकी योग्यता, प्रतिभा और कर्मठता को स्वीकार करते हुए उन्हें भरपूर मान-सम्मान भी दिया।

सन् 1961 में काका साहब को पचहत्तर वर्ष की आयु होने पर अहमदाबाद में प्रसिद्ध विद्वान पं. सुखलाल की अध्यक्षता में अभिनंदित

करते हुए 'कालेलकर अध्ययन ग्रंथ' समर्पित किया गया।

काका साहब के उत्कृष्ट योगदान और विशिष्ट सेवाओं के लिए देश सदैव उनका ऋणी रहेगा और गर्व क़ा अनुभव करेगा।

काका साहब के 91वें जन्मदिन (1975) पर श्रीमती इंदिरा गांधी प्रणाम करते हुए

सन् 1964 में राज्यसभा से निवृत्त होने पर भारत सरकार ने शिक्षण और साहित्य के क्षेत्र में किए गए योगदान का सम्मान करते हुए उन्हें 'पद्म विभूषण' से अलंकृत किया। जीवन के अस्सी वर्ष पूरे होने पर उनके सम्मान में राष्ट्रपति भवन में एक विशेष समारोह का आयोजन किया गया। इस अवसर पर राष्ट्रपति राधाकृष्णन् ने उन्हें 'संस्कृति के परिव्राजक' शीर्षक से अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया।

सन् 1966 में केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने उनकी पुस्तक 'जीवन-व्यवस्था' को उस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ गुजराती साहित्य की पुस्तक का पुरस्कार प्रदान किया। वह उनके गुजराती साहित्य के मूर्धन्य साहित्यकार होने का अनुमोदन था। इसी वर्ष उनकी हिन्दी पुस्तक 'परम सखा मृत्यु' को उत्तर प्रदेश सरकार ने पुरस्कृत किया। यह उनके श्रेष्ठ हिन्दी लेखक होने का सम्मान था।

सन् 1967 में सरदार पटेल विश्वविद्यालय द्वारा, सन् 1971 में गुजरात विश्वविद्यालय द्वारा तथा सन् 1974 में काशी विद्यापीठ द्वारा डी. लिट्. की मानद उपाधियाँ देकर उन्हें गौरवान्वित किया गया। 1968 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें अपनी उच्चतम उपाधि 'साहित्य वाचस्पति' से अलंकृत किया।

सन् 1971 में साहित्य अकादमी ने काका साहब को अपना आजीवन महत्तर सदस्य (फैलो) बनाकर सम्मानित किया।

उनके जीवनकाल में उनका अंतिम बार सम्मान उनके 95वें जन्मदिवस पर तत्कालीन उपराष्ट्रपति न्यायमूर्ति एम. हिदायतुल्ला द्वारा किया गया।

पद्म विभूषण से सम्मानित काका साहब

इस सम्मान समारोह में उन्हें 'समन्वय के साधक' अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया गया।

पद्म विभूषण से अलंकृत होने पर काका साहब ने अपने उद्गार इस प्रकार व्यक्त किए थे–"गांधीजी जैसे युगपुरुष का अनुयायी होने का सद्भाग्य मुझे मिला। और इसी जीवन में इन आँखों से भारत को स्वतंत्र होते हुए भी देख सका। इसी से मुझे सब-कुछ मिल गया। सच कहूँ तो मुझे और किसी अन्य सम्मान की आवश्यकता नहीं थी।"

सच तो यह है कि उनका सम्मान करके वस्तुतः हर भारतवासी सम्मानित और गौरवान्वित हुआ।

21. परम सखा मृत्यु से महामिलन

काका साहब कालेलकर का सार्वजनिक जीवन एक देशभक्त क्रांतिकारी के रूप में आरंभ हुआ और समन्वय के साधक के रूप में अंत हुआ। साबरमती के बाद वे वर्धा में रहे, वह स्थान काकावाड़ी के नाम से प्रचलित हुआ। जीवनभर विश्व भ्रमण करते रहे, साधना करते रहे। आखिर में दिल्ली राजघाट गांधी समाधि के निकट 'सन्निधि' में रहकर गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा के माध्यम से सामाजिक एवं शैक्षिक विविध गतिविधियाँ सतत रूप से चलाते रहे।

काका साहब स्वतंत्र विचारक, साहित्यकार, शिक्षाशास्त्री, समाज-सेवक, कला-संगीत-प्रेमी, उत्कृष्ट लेखक, पत्रकार एवं जगप्रवासी थे। भाषा पंडित और देशाटन के कारण भारतीय संस्कृति के परिव्राजक थे।

सत्याग्रह के सिद्धांतों को आत्मसात करने वाले काका साहब के विषय में गांधीजी ने कहा था, "काका का अनुभव जैसा मुझे इस बार जेल में हुआ, वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। काका में महाराष्ट्रीयता रही ही नहीं है। काका की अपार मृदुता मैं जेल के बाहर शायद कभी देख नहीं पाता। काका साहब कभी ऐसे हो सकते हैं, ऐसी कल्पना आप कर सकेंगे? मैंने उन्हें जार-जार आँसू बहाते देखा है। मुझे कई बार कहते, 'मुझमें अनेक दोष हैं। जैसे-जैसे आपके ध्यान में आवें, आप कृपया निर्दय होकर कहते जावें, सुधारते जाएँ।' मैंने कहा, 'यह जो विश्वास आप मुझ पर रखते हैं, उसका मैं पूरा उपयोग करूँगा।' और उनके अनुसार कभी मेरी कड़ी टीका हो जाय, तब अपनी भूल कबूल करके काका रोते भी थे। सत्याग्रह के सिद्धांतों को तो काका ने पूरा आत्मसात किया है।

मैंने अपने 'आकाश-दर्शन' लेख में काका के सहवास को 'सत्संग'

कहा है और उस 'सत्संग' को मैं बहुत दफा हृदय से चाहता था।''

काका साहब की सबसे बड़ी विशेषता रही—निरंतर गतिशीलता और हर पल नया विकास, नया सृजन। उनका जीवन-पटल इतना विशाल और वैविध्यपूर्ण था कि संसार का कोई विषय ऐसा नहीं जो उनके स्पर्श से अछूता रह गया हो—परिवार, समाज, राष्ट्र, राजनीति, शिक्षा, साहित्य, धर्म, धरती, आकाश, पेड़-पौधे, तितली, पर्वत, नदियाँ, पशु-पक्षी-प्रेम, नक्षत्र, स्त्री शक्ति, अध्यात्म, कला, दर्शन, संस्कृति, पर्यटन, विश्व के देश और उनका जीवन, परम सखा मृत्यु आदि-आदि।

नारी शक्ति और उसकी मान-प्रतिष्ठा को काका साहब ने अपने साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। एक प्रवचन में काका साहब ने राम और सीता के प्रसंग में कहा, ''रामायण में उत्तरकाण्ड बाद में जोड़ा गया है। रामचन्द्र जैसा विवेकी, प्रेमिल, शरणागत-रक्षक कभी भी ऐसा नहीं बदल सकता था कि सीता जैसी परम पवित्र पत्नी को दूसरी बार अग्नि-परीक्षा का आदेश दे। कवि वाल्मीकि ने ऐसी कल्पना कभी नहीं की होगी। किसी एक अन्य कवि ने उत्तरकाण्ड को जोड़ दिया है। चतुराई के साथ।''

स्पष्टता और निर्भीकता इतनी कि उनके इस गुण को गांधीजी ने भी सदैव आदर दिया। एक बार यह वाद चल रहा था कि मुंबई महाराष्ट्र में हो या गुजरात में—तब एक मित्र ने काका साहब से पूछा, ''बम्बई किसको दी जाए?'' उन्होंने तुरंत उत्तर दिया, ''पारसियों को यह नगर क्यों न दिया जाए? पारसियों ने ही तो इसको बनाया है, इसलिए उनका अधिकार है कि वे ही उत्तम तरह से उसकी देखभाल करेंगे।''

काका साहब कोई भी कार्य गांधीजी की स्वीकृति के बिना या उनसे विचार-विमर्श किए बिना नहीं करते थे। समन्वय धर्म की अनिवार्यता का महत्व समझकर उन्होंने 10 जुलाई, 1967 को विश्व समन्वय संघ की स्थापना की थी। तब उन्होंने कहा था, ''जीवन व्यक्ति का हो, राष्ट्र का हो, या समस्त मानव जाति का, संघर्ष टालकर उत्कर्ष-सिद्धिप्रद समन्वय ही उसे समर्थ और कृतार्थ करेगा। संस्कृति का पूर्वार्द्ध है संघर्ष और सहयोग। उत्तरार्द्ध है समन्वय।''

नब्बे वर्ष की आयु तक प्रतिकूल परिस्थितियों का खयाल किये बिना वह घंटों निरंतर कार्यशील रहे। नवयुवकों को आगे लाने के उद्देश्य से धीरे-धीरे

अब चिरप्रवासी ने अपने पंख समेटने शुरू कर दिए। उन्होंने 'गांधी स्मृति संग्रहालय', 'अखिल भारतीय बुनियादी तालीम बोर्ड', 'गांधी विचार परिषद' आदि संस्थाओं के महत्वपूर्ण पदों से निवृत्ति प्राप्त करनी प्रारंभ कर दी। गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा का अध्यक्ष पद तो उन्होंने 1976 में ही कुमारी सरोजिनी नाणावटी को सौंप दिया था और श्री अमृतलाल नाणावटी को 'मंगल प्रभात' का सम्पादक नियुक्त कर दिया।

शरीर दुर्बल हो रहा था। सुनने की शक्ति धीरे-धीरे कम होती जा रही थी। श्रवण-शक्ति की कमी का हास्य में यह कहकर गुणगान करते, "आप मेरे बारे में क्या कहते हैं, इसकी चिंता किए बिना मैं अपनी बात कह सकता हूँ, परनिन्दा सुनने के दोष से भी बच जाता हूँ।"

मृत्यु की वह बिलकुल चिंता नहीं करते थे। मृत्यु और मृत्यु के बाद की स्थिति के विषय में काका साहब कहते हैं, "मनुष्य-मरण के बाद वह अपने समाज में जीवित रहता है। किसी का समाज छोटा होता है, किसी का बड़ा। मनुष्य अपने जीवन में जो कर्म करता है, जो विचार प्रकट करता है, जो ध्यान-चिंतन करता है, उस सबका असर उसके समाज पर होता ही रहता है। चंद बातों में मौत के बाद वह असर ज्यादा होता है। मनुष्य ने अपने जीवन में जो-जो किया, समाज के साथ सहयोग किया या उसकी सेवा की, उन सबकी भली-बुरी विरासत उसके समाज को मिलती है और इस तरह वह समाज पर अपना असर डालता रहता है। यही उसका मरणोत्तर जीवन होता है।

महावृक्षों और पर्वतों की छाया दूर तक पहुँचती है। भगवान् बुद्ध और महात्मा गांधी जैसों का असर समाज में हजारों बरसों तक अपना काम करता है। इसलिए हम इन लोगों को दीर्घजीवी या चिरजीवी कहते हैं।

समूचे जीवन का विचार करते हुए कहना पड़ता है कि मृत्यु के इस तरफ का जीवन यानी पूर्व जीवन छोटा है, केवल तैयारी के जैसा है, सच्चा और विशाल जीवन तो मृत्यु के बाद शुरू होता है। मृत्यु के पहले का जीवन पुरुषार्थी होने के कारण उसका अपना विशेष महत्व है। मृत्यु के बाद जीवन परिणाम-रूप होने से व्यापक और दीर्घकालीन होता है। इसलिए उसका महत्व भी कम नहीं होता।

मृत्यु के बाद जो जीवन जीया जाता है, उसे हमारे धर्मग्रंथों में, उपनिषदों

में साम्पराय कहा है। 'साम्परायः प्रतिभाति बालम्' यानी जो लोग बच्चों की तरह अज्ञानी हैं, अन्धे हैं, वे साम्पराय को नहीं देख सकते। लेकिन जो ज्ञानी है, जानकार है, वह मरणोत्तर जीवन को और उसके महत्व को पहचानता है।''

दत्तात्रेय (काका) कालेलकर के समदर्शी, तत्वदर्शी एवं यशस्वी व्यक्तित्व के सान्निध्य और सेवा में सोलह वर्षों तक कुसुम शाह का साथ रहा। कुसुम शाह उनकी मृत्यु की प्रत्यक्षदर्शी रही हैं। उन्होंने मर्मस्पर्शी शब्दों में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है, ''हजारों वर्षों से अनवरत चली आ रही भारतीय ऋषियों और महर्षियों की महान परम्परा में उच्च स्थान पर स्थित एवं अलौकिक प्रतिभाशाली पूज्यश्री काका साहब का कृपापूर्ण सोलह वर्ष का लम्बा सान्निध्य न जाने पूर्वजन्मों में किए गए किन पुण्यों का फल है। उनकी भव्य एवं विशाल काया पर विराजमान श्वेत दाढ़ी और लम्बे-लम्बे केश अहर्निश हम शिष्यों में वात्सल्य रूपी पावन गंगा का संचार करते रहते थे। उनके हिमालय सदृश भाल पर विराजमान तीन पूर्ण रेखाएँ सूचित करती थीं कि ये महायोगी त्रिगुणातीत हैं।...

92 वर्ष की आयु तक उन्होंने संसार के कोने-कोने में जाकर बापू के संदेश को एवं भारतीय संस्कृति के आत्मारूप समन्वय के विचार को प्रचारित किया। यह महान यज्ञ किसी लौकिक प्रतिभा के बस की बात न थी, इसके पीछे थीं उनकी महान अलौकिक आध्यात्मिक शक्तियाँ! जी हाँ, उनका व्यक्तित्व दिखने में बिलकुल सादा एवं अकृत्रिम था किन्तु उनके मुखमण्डल पर व्याप्त तेज एवं आँखों की दिव्य ज्योति से अलौकिक प्रतिभा का परिचय अनायास ही मिल जाता था। वे एक जीवनमुक्त सिद्धपुरुष थे, जो कि इस शरीर में रहते हुए भी ब्रह्मलीन थे। किंतु वे किसी कल्पित ब्रह्म में लीन नहीं थे, बल्कि विश्वात्मैक्य स्वरूप ब्रह्म में ही लीन थे।

देह-मुक्ति से कुछ दिनों पूर्व सुबह की समाधि की अवस्था से वापिस आकर कहने लगे, 'मृत्यु को आने के लिए मैंने कब मना किया है? बस प्रभु से मेरी इतनी ही प्रार्थना है कि असावधानी की अवस्था में मेरे ऊपर मृत्यु का पंजा न पड़े।'

7 अगस्त, 1981 को बार-बार वे दोहराते रहे कि बाहर कौन बैठा है, उससे कहो मैं उसके दर्शन के लिए तैयार हूँ।''

संभवतः वे जीवनमुक्तावस्था को त्यागकर ब्रह्मलीन होने की तैयारी कर रहे थे। 15 अगस्त तक उनकी दिनचर्या लगभग सामान्य चलती रही। 18 अगस्त को एक-दो डिग्री के बीच उन्हें ज्वर था।

20 अगस्त की अंतिम जीवन-रात्रि में सन्निधि में सरोजिनी नाणावटी, कुसुम शाह तथा डॉ. रमेश भारद्वाज काका साहब के साथ थे।

21 अगस्त की सुबह से ही काका साहब के मुखमण्डल पर एक अलौकिक तेज दृष्टिगोचर हो रहा था। उनको चार डिग्री तक तेज बुखार था। उनके दोनों हाथ परस्पर आलिंगन से आबद्ध थे और होंठ धीरे-धीरे कम्पायमान थे। सुबह की सन्निधि प्रार्थना काका साहब के साथ ही उनके कक्ष में की गई। नौ पैंतालीस पर नाड़ी ने अचानक ही अपना स्थान छोड़ने का प्रयास किया लेकिन 'ओम् नमो नारायणाय पुरुषोत्तमाय' का पाठ शुरू होते ही नाड़ी अपने स्थान पर आ गई।

दोपहर के समय उनके दाएँ कान का निचला भाग मुड़ गया था, जो इस बात का संकेत था कि वे अब शीघ्र शरीर से मुक्ति पाने वाले हैं।

कुसुम शाह के अनुसार, "पूज्यश्री के कमरे की घड़ी ने दो बजकर तीस मिनट का घण्टा बजाया। मानो वह सूचित कर रहा था, 'हे पूज्यश्री के चरणों के भक्तो! तैयार हो जाओ। अब तुम्हारे गुरुपाद महापरिनिर्वाण की ओर अग्रसर होने वाले हैं।' बस काल की सांकेतिक आकाशवाणी समाप्त हुई और पूज्यश्री उन अंतिम पन्द्रह मिनटों में अभूतपूर्व अलौकिक दर्शन करने लगे। पूज्यश्री के महान तेज से युक्त नेत्र सामने दीवारों पर लगी ओंकार, जरथुष्ट्र, ईशु, बुद्ध की मूर्तियों को देखकर आनंद से पुलकित होते जाते थे। पूज्यश्री के तेज से दैदीप्यमान मुखमण्डल एवं पुलकित शरीर साक्षात प्रभु के विश्वात्मैक्य रूप के दर्शन पाकर धन्यता अनुभव करता हुआ रोमांचित होता जाता था।"

अपने उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घायु का रहस्य समझाते हुए काका साहब विनोद में कहते थे, "मैंने मृत्यु का चिंतन तो काफी किया है पर मृत्यु की चिंता मैं नहीं करता। अब ये दो मेरे पीछे पड़े हैं, मुझे पकड़ना चाहते हैं– एक है बुढ़ापा, दूसरी है मृत्यु। ये दोनों काफी थके हुए हैं पर पीछे तो पड़े ही रहते हैं। मुझे लेने कहीं पहुँच जाते हैं और लोगों से पूछते हैं कि फलाँ आदमी कहाँ है? लोग कहते हैं कि अभी कल यहाँ थे लेकिन पता

नहीं यहाँ से कहाँ चले गए? दरियाफ्त करके मेरा पता पाकर नए स्थान पर हाँफते-हाँफते मुझे लेने पहुँचते हैं। वहाँ पर भी उन्हें वही अनुभव होता है। लोग कहते हैं कि आपने थोड़ी-सी देरी की। अभी यहाँ पर थे लेकिन पता नहीं, यहाँ से कहाँ गए।''

आखिर मृत्यु को काका साहब का पता मिल ही गया। गांधीजी का छियानवे वर्षीय अहिंसक सेनानी, प्रकृति-प्रेमी, राष्ट्र एकता का स्वप्नद्रष्टा, कर्मयोगी 21 अगस्त, 1981 को अपराह्न 2.45 पर ब्रह्मलीन हो गया।

भगवान् ने दर्शन देकर बालक को अपनी गोद में उठा लिया।

(मंगल प्रभात, सितम्बर 1981)

काका साहब ने मृत्यु की व्याख्या इस प्रकार की थी, ''मृत्यु अर्थात् घड़ीभर का आराम, मृत्यु अर्थात् नाटक के दो अंकों के मध्यावकाश की यवनिका, मृत्यु अर्थात् वाणी के अस्खलित प्रवाह में आने वाले विराम चिह्न ...मृत्यु तो पुनर्जन्म के लिए ही है...मृत्यु अग्नि नहीं है बल्कि तेजस्वी रत्नमणि है, जिसे छूने में कोई खतरा नहीं है।''

काका साहब के बड़े बेटे सतीश ने अपने पिता की मृत्यु के संबंध में लिखा है, ''अगले दिन (21 अगस्त) लगा जैसे वे गांधीजी के दर्शन कर रहे हैं और वे (गांधीजी) पिताजी को बुला रहे हैं। उसके बाद वे धीरे-धीरे शांत होने लगे। तीसरे पहर तक पक्षी उड़ चुका था।''

काका साहब का पार्थिव शरीर सन्निधि के प्रार्थना भवन में दर्शनार्थ रखा गया। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी, उनके सहपाठी, सहकर्मी आचार्य कृपलानी आदि अनेक नेताओं, साहित्यकारों तथा प्रशंसकों ने सन्निधि आकर उन्हें अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। 22 अगस्त को उनके पार्थिव देह को अग्नि को समर्पित कर दिया गया। अश्रुपूरित नेत्रों से सन्निधि ने पूज्यश्री को अंतिम विदाई दी। समन्वय के उद्‌गाता एवं गांधी युग के प्रकाश स्तंभ को हमारा शत-शत नमन!

ओम् नमो नारायणाय पुरुषोत्तमाय

ओम् शांतिः शांतिः शांतिः

परिशिष्ट-1

काका के चयनित आलेख

ओम् नमो नारायणाय पुरुषोत्तमाय

भगवान् के नाम अनन्त हैं, लेकिन भक्तों ने अपने आनंद के लिए दस, एक सौ आठ या हजार नाम इकट्ठा करके स्तोत्र बनाकर गाना या जाप करना शुरू किया।

मैंने अपने ध्यान और जाप के लिए दो नाम विशेष रूप से पसंद किए हैं—नारायण और पुरुषोत्तम।

'नारायण' शब्द का अर्थ मैंने एक ढंग से किया है, मनु भगवान् ने दूसरे व्यापक ढंग से। दोनों अच्छे हैं और सच्चे हैं। दोनों को मिलाना चाहिए। ''नराणाम् समूहः नारम्।'' भूतकाल, वर्तमान और भविष्य के समस्त नर-नारी के समूह को संस्कृत में 'नार' कहते हैं। नार यानी सम्पूर्ण मानव जाति। यह नार, जिसका अयन यानी 'रहने का स्थान' बन गया है, वह है 'नारायण' (गॉड ऑफ ह्यूमेनिटी)।

अब मनु भगवान् की व्युत्पत्ति समझाता हूँ—

पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश—इन पंच महाभूतों की सृष्टि जिस मूल तत्व से बनी है, उसे संस्कृत में 'आप' अथवा 'अप्' कहते हैं। संस्कृत में 'आप' का मामूली अर्थ है पानी; लेकिन समस्त सृष्टि के मूल तत्व को भी 'आप' या 'अप्' कहते हैं। परमात्मा को 'नर' कहते हैं। 'नर' में से 'अप्' तत्व बना, इसलिए उसे 'नार' कहने लगे। मनु भगवान् समझाते हैं, ''आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नर-सूनवः।'' अप् शब्द यहाँ बहुवचन में आया है। 'नर' में से उत्पन्न मूल तत्व—'नार'—जिसका रहने का स्थान हुआ—वह है नारायण।

ताः यद् अस्य अयनं जातम् इति नारायण स्मृतः। (गॉड इज ऑफ दी यूनिवर्स)।

ये दोनों अर्थ एकत्र करके हम नारायण का ध्यान करें और जाप भी करें।

दूसरा शब्द है पुरुषोत्तम। इसका अर्थ स्पष्ट है। संस्कृत में 'पुर' यानी शरीर। "पुरिशेते इति पुरुषः।" इस शरीर में सुप्त रूप में जो रहता है, वह जीवात्मा पुरुष कहा जाता है। हम सब पुरुष हैं। पुरुष में जो सुप्त तत्व है, उसे जाग्रत करके सर्वगुण सम्पन्न करने से वही उत्तम पुरुष अथवा पुरुषोत्तम बनता है। पुरुष का भाव चढ़ाते-चढ़ाते जब हम ऊपर तक पहुँच जाते हैं तब वही पुरुषोत्तम बनता है (उत्, उत्तर, उत्तम)।

'नारायण' शब्द से समस्त मानव जाति का विचार जाग्रत होता है और 'पुरुषोत्तम' शब्द से मानवता के गुणोत्कर्ष का विचार केन्द्रित होता है, इसलिए ये दो नाम मैंने अपने ध्यान-भजन के लिए पसंद किए हैं।

'नारायण' शब्द की एक व्याख्या महाभारत से मिली है—

"समः सर्वेषु भूतेषु, ईश्वरः सुखदुःखयोः।

महान् महात्मा सर्वात्मा नारायण इति श्रुतिः।।" (शांतिपर्व 355/27)

श्लोक का अर्थ स्पष्ट है। परमात्मा सब प्राणियों में, भूतों में समान है, सबके सुख-दुख का वह ईश्वर (मालिक) है। महान होने से उसे 'महात्मा' कहते हैं। 'सर्वात्मा' भी कहते हैं। वेद के अनुसार वह नारायण है।

"ईश्वरः सुखदुःखयोः" इसका, संक्षेप में, भाव यह है—

सुख-दुख का अनुभव सबको है। इन शब्दों का अर्थ संकुचित भी है और व्यापक भी है। इन्द्रियों के अनुकूल सो सुख और इन्द्रियों के प्रतिकूल सो दुख—यह है उनका संकुचित अर्थ।

लेकिन केवल इन्द्रियों को नहीं, किंतु सब तरह के आनंद को हम सुख कहते हैं। दुख का भी ऐसा ही व्यापक अर्थ है।

यह सुख और दुख प्राणियों को अथवा मनुष्यों को कहाँ, कब, कितना मिले, यह हमारे हाथ में नहीं है। इसका कोई नियम भी हम नहीं बना सकते। सुख-दुख का सारा तन्त्र भगवान् के ही आधीन है। इसीलिए ऋषि ने कहा, "नारायणः सुखदुःखयोः ईश्वरः।" परमात्मा ही सुख-दुख का ईश्वर यानी मालिक है। उसी को 'नारायण' कहते हैं।

मनुष्य के सुख-दुख उसके आधीन नहीं हैं, किंतु सुख-दुख का सदुपयोग कर लेना उसके हाथों में है। सुख और दुख से मनुष्य अगर अपना अधःपात होने दे, अपनी साधना के द्वारा दोनों का सदुपयोग करे, और उन्नति साध ले तो एक ढंग से (अर्थात् नम्र अर्थ में) वह भी सुख-दुख का ईश्वर बन सकता है।

('उपनिषदों का बोध' से)

ब्रह्मविद्या के बाद भी जीवन-विद्या

आहार में हम दूध पियें या दूध का सार निकालकर घी का सेवन करें? यह एक जीवन-व्यवहार के महत्व का सवाल है। हम भारत के लोग दूध में से मक्खन निकालकर उसका भी घी बनाने लगे, ताकि वह जल्दी बिगड़ न जाय। दूसरे लोगों ने दूध को उबालकर उसमें से खोवा तैयार किया, ताकि वह थोड़े में दूध की पुष्टि दे सके और काफी दिन तक टिक सके, और दूसरे लोगों ने दूध का पनीर बनाया, जिसे अंग्रेजी में 'चीज' कहते हैं। उद्देश्य एक ही था कि दूध का सार हमें मिले। दूध का बोझा उठाना न पड़े। घर में या सफर में दूध जैसा पौष्टिक आहार बिना बिगड़े बहुत दिन तक काम आ सके।

कुदरत ने अथवा भगवान् ने तरह-तरह के फूल पैदा किए। फूलों में रंग और आकृति की विविधता, कोमलता, ताजगी और यौवन के उपरांत सुगंध भी आ बढ़ी, जिसके कारण हमको न केवल आनंद मिलने लगा, बल्कि दिमाग को उससे पुष्टि भी मिलने लगी और चन्द लोगों के लिए उसमें से किसी रोग का इलाज भी मिला। फूलों की यह उपयोगिता और फूलों का आकर्षण देखकर मनुष्य ने बगीचे बनाए। फूलों को तोड़कर इकट्ठा करके उसके गुच्छे बना दिए। आगे जाकर मनुष्य इन फूलों से इत्र भी बनाने लगा। इत्र में फूलों का सार आ गया, ऐसा मानकर इत्र बनाने का एक पेशा शुरू हुआ और ये इत्र वाले फूलों को उबालकर या और ढंग से फूलों की सुगंध को तेल के अंदर सुरक्षित बनाने लगे। राज-दरबार में और आतिथ्य-सत्कार में गुलाबजल का और तरह-तरह के इत्रों का व्यवहार होने लगा। बड़ी प्रगति हुई और संस्कृति आगे बढ़ी।

लेकिन अब हम देख सकते हैं कि दूध में जो-जो जीवन-तत्व हैं, वे

सब घी में, खोवे में और पनीर में नहीं आ सकते। छोटी-छोटी और असंख्य सूक्ष्म चीजें, जो जीवन के लिए अत्यावश्यक हैं, घी आदि सार-पदार्थों में गायब होती हैं। बच्चों से लेकर बूढ़ों तक जीवन-पोषण का जो काम दूध करता है, वह घी, पनीर अथवा खोवा नहीं कर सकता। इनमें भी घी तो केवल चरबी मात्र है। इससे तो खोवा और 'चीज' अच्छा। लेकिन दूध तो दूध ही है। दूध को हम जीवन-सर्वस्व कह सकते हैं।
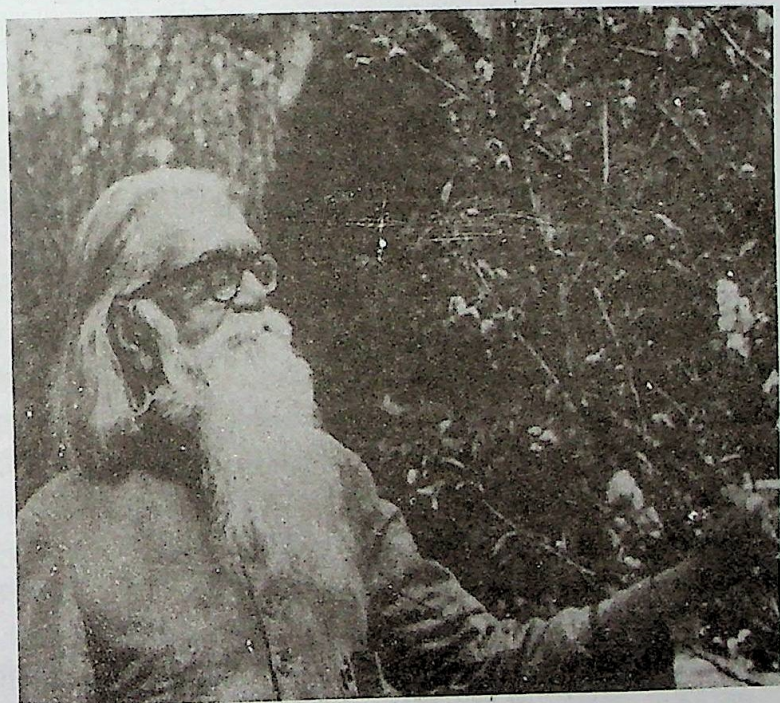
जापान में साकूरा के फूलों के साथ काका साहब

फूलों की भी यही बात है। फूलों के बगीचे में बैठना, घूमना, फूलों का दर्शन करना, उनसे वार्तालाप करना, उनकी बातें सुनना—इसमें जो शारीरिक, मानसिक, कलात्मक, भावनात्मक और आध्यात्मिक लाभ है, वह इत्र का फाया कान में रखने से और गुलाबजल कपड़े पर छिड़कने से प्राप्त नहीं होता। फूलों के बगीचे में बैठकर फूलों के साथ जीवन-विनिमय करना आध्यात्मिक साधन बन सकता है। जीवन-साधना का वह एक प्रकार ही

है। गुलाबजल और इत्र व्यवहार करना या तो विलासिता का ढंग है अथवा शारीरिक, मौखिक दुर्गन्ध को ढक देने का एक उपाय है। घर के आसपास अथवा शहर के और गाँव के कोने-कोने में जो दुर्गन्ध इकट्ठा होती है, उसे दूर करने की अपेक्षा ढक देने के लिए, छिपाने के लिए, सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग करना जीवन के साथ ठगी चलाना है।

जो हो, सार के नाम से जो चीज हम इकट्ठा करते हैं, वह अत्यंत महत्व की होते हुए भी उसमें जीवन के कई सूक्ष्म और अत्यन्त महत्व के तत्व नष्ट हो जाते हैं। आज के आहारशास्त्री कहते ही हैं कि गन्ने के रस में जितने पोषकतत्व और प्राणतत्व होते हैं, उनमें से बहुत कुछ चीनी में नहीं आते। चीनी पौष्टिक पदार्थ है सही, शुद्ध भी है, स्वच्छ है, दीर्घकाल तक टिक सकती है। थोड़े में बहुत-सा आहार-मूल्य समाया जा सकता है। लेकिन जो जीवन-तत्व गन्ने के रस में हैं, उनका प्रधान अंश चीनी में नहीं आ सकता।

अब ऐसे भी प्रयास होने लगे हैं कि दूध में से मक्खन और घी निकालकर बाकी के दूध को बेचना। पहले उसे कहते थे 'स्किम्ड मिल्क'। आजकल उसे कहते हैं 'टोण्ड मिल्क'। ऐसा दूध सस्ते में मिलता है। जिन बीमारों को दूध नहीं मिलता, वहाँ ऐसे 'टोण्ड मिल्क' की छाछ भी मिले तो उनका स्वास्थ्य सुधर सकता है। कसरत-मेहनत न करने वाले बिठाऊ लोग घी खाकर भले ही मानें कि हमें दूध का सार मिल गया। अच्छे-अच्छे तत्व 'टोण्ड मिल्क' की छाछ में ही पाए जाते हैं। और गरीब लोगों के पास प्राणतत्व चूसने की हाजमा-शक्ति होने से वे निःसत्व दूध की छाछ से भी काफी प्राणतत्व पा जाते हैं।

केवल उपमा के लिए दूध और फूल की उपयोगिता का विस्तार यहाँ तक किया; क्योंकि हमें एक महान जीवनोपयोगी बात समझानी है।

सब कोई जानते हैं कि मनुष्य जीवन में शरीर की अपेक्षा प्राण का महत्व अधिक है। प्राण से भी बढ़कर है मन अथवा चित्त। इस मन और चित्त का सार है बुद्धि। और परमात्मा तो बुद्धि से भी परे है। गीता ने एक श्लोक में यही कहा है कि शरीर में इन्द्रियों की प्रधानता है। उनसे बढ़कर है मन। उनसे दूर है बुद्धि और उसके भी परे है आत्मा।

"इन्द्रियाणि पराणि आहुः। इन्द्रियेभ्यः परम् मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतः तु सः।।"

इसीलिए तो आत्मा को 'अंतरात्मा' कहते हैं और उसकी उपासना बताई गई है।

लेकिन जीवन का उत्तम रस भले ही आत्मा में हो, हमारे हृदय में भले ही परमात्मा, परब्रह्म का निवास हो; उनके बिना हमारा जीना अशक्य, निःसत्व, असम्भव ही क्यों न हो, केवल आत्मा, परमात्मा जीवन-सर्वस्व नहीं है। जीवन का सार आत्मा में आ जाता है। इसलिए आत्मा को खोकर जीना 'महत् हानि' ही है, 'महती विनष्टि' ही है। लेकिन केवल आत्मा में जीवन का सम्पूर्ण रस नहीं आ सकता। जीवन के बिना आत्मा को स्वानुभव का आनन्द भी नहीं मिलता। आज अगर कोई मुझसे पूछे कि आत्म-दर्शन श्रेष्ठ है या जीवन-दर्शन, तो मैं कहूँगा कि आत्म-दर्शन के बिना जीवन-दर्शन अपूर्ण है, निःसत्व है, निस्सार है। लेकिन 'केवल आत्म-दर्शन' की अपेक्षा 'आत्म-दर्शन-युक्त जीवन-दर्शन' ही सर्वश्रेष्ठ है, इसमें तनिक भी शंका के लिए अवकाश नहीं है।

ब्रह्मविद्या अथवा आत्म-दर्शन भले ही सर्वश्रेष्ठ विद्या हो, अध्यात्म-विद्या तमाम विद्याओं की शिरोमणि क्यों न हो, मनुष्य को सम्पूर्ण विकास की दीक्षा देने की सामर्थ्य उसी में क्यों न हो, ब्रह्मविद्या को आखिरकार जीवन की और जीवन-दर्शन की ही सेवा करनी है।

हमारा मतलब किसी श्रेष्ठ मानव-नेता का आतिथ्य करने का क्यों न हो, उसके परिचय का पूर्ण लाभ हम तभी उठा सकते हैं जब हम उस नेता के साथ उसकी जीवन-संगिनी पत्नी, उसके बाल-बच्चे, उसके रहस्य-मंत्री और उसके अन्तेवासी सेवकों को भी आमंत्रण दें; क्योंकि उस नेता का व्यक्तित्व और उसका अध्यात्म उन सबको साथ लेकर ही प्रकट होता है।

अध्यात्म-विद्या, आत्मविद्या, वैराग्य-विद्या, वैराग्य-साधना, धारणा-ध्यान-समाधि आदि आत्मयोग के पीछे हजारों बरस व्यतीत करने के बाद उसी सिद्धि के बल पर अब हमें जीवन-साधना करनी है, जीवन-योग को पाना है।

और वह भी केवल व्यक्तिगत जीवन का नहीं, केवल पारिवारिक और राष्ट्रीय जीवन का भी नहीं, समस्त मानव जीवन का, विश्वव्यापी, इतिहासव्यापी मानव जीवन का दर्शन और योग हमें प्राप्त करना है। इसके लिए हमें

है। गुलाबजल और इत्र व्यवहार करना या तो विलासिता का ढंग है अथवा शारीरिक, मौखिक दुर्गन्ध को ढक देने का एक उपाय है। घर के आसपास अथवा शहर के और गाँव के कोने-कोने में जो दुर्गन्ध इकट्ठा होती है, उसे दूर करने की अपेक्षा ढक देने के लिए, छिपाने के लिए, सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग करना जीवन के साथ ठगी चलाना है।

जो हो, सार के नाम से जो चीज हम इकट्ठा करते हैं, वह अत्यंत महत्व की होते हुए भी उसमें जीवन के कई सूक्ष्म और अत्यन्त महत्व के तत्व नष्ट हो जाते हैं। आज के आहारशास्त्री कहते ही हैं कि गन्ने के रस में जितने पोषकतत्व और प्राणतत्व होते हैं, उनमें से बहुत कुछ चीनी में नहीं आते। चीनी पौष्टिक पदार्थ है सही, शुद्ध भी है, स्वच्छ है, दीर्घकाल तक टिक सकती है। थोड़े में बहुत-सा आहार-मूल्य समाया जा सकता है। लेकिन जो जीवन-तत्व गन्ने के रस में हैं, उनका प्रधान अंश चीनी में नहीं आ सकता।

अब ऐसे भी प्रयास होने लगे हैं कि दूध में से मक्खन और घी निकालकर बाकी के दूध को बेचना। पहले उसे कहते थे 'स्किम्ड मिल्क'। आजकल उसे कहते हैं 'टोण्ड मिल्क'। ऐसा दूध सस्ते में मिलता है। जिन बीमारों को दूध नहीं मिलता, वहाँ ऐसे 'टोण्ड मिल्क' की छाछ भी मिले तो उनका स्वास्थ्य सुधर सकता है। कसरत-मेहनत न करने वाले बिठाऊ लोग घी खाकर भले ही मानें कि हमें दूध का सार मिल गया। अच्छे-अच्छे तत्व 'टोण्ड मिल्क' की छाछ में ही पाए जाते हैं। और गरीब लोगों के पास प्राणतत्व चूसने की हाजमा-शक्ति होने से वे निःसत्व दूध की छाछ से भी काफी प्राणतत्व पा जाते हैं।

केवल उपमा के लिए दूध और फूल की उपयोगिता का विस्तार यहाँ तक किया; क्योंकि हमें एक महान जीवनोपयोगी बात समझानी है।

सब कोई जानते हैं कि मनुष्य जीवन में शरीर की अपेक्षा प्राण का महत्व अधिक है। प्राण से भी बढ़कर है मन अथवा चित्त। इस मन और चित्त का सार है बुद्धि। और परमात्मा तो बुद्धि से भी परे है। गीता ने एक श्लोक में यही कहा है कि शरीर में इन्द्रियों की प्रधानता है। उनसे बढ़कर है मन। उनसे दूर है बुद्धि और उसके भी परे है आत्मा।

"इन्द्रियाणि पराणि आहुः। इन्द्रियेभ्यः परम् मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतः तु सः।।"

इसीलिए तो आत्मा को 'अंतरात्मा' कहते हैं और उसकी उपासना बताई गई है।

लेकिन जीवन का उत्तम रस भले ही आत्मा में हो, हमारे हृदय में भले ही परमात्मा, परब्रह्म का निवास हो; उनके बिना हमारा जीना अशक्य, निःसत्व, असम्भव ही क्यों न हो, केवल आत्मा, परमात्मा जीवन-सर्वस्व नहीं है। जीवन का सार आत्मा में आ जाता है। इसलिए आत्मा को खोकर जीना 'महत् हानि' ही है, 'महती विनष्टि' ही है। लेकिन केवल आत्मा में जीवन का सम्पूर्ण रस नहीं आ सकता। जीवन के बिना आत्मा को स्वानुभव का आनन्द भी नहीं मिलता। आज अगर कोई मुझसे पूछे कि आत्म-दर्शन श्रेष्ठ है या जीवन-दर्शन, तो मैं कहूँगा कि आत्म-दर्शन के बिना जीवन-दर्शन अपूर्ण है, निःसत्व है, निस्सार है। लेकिन 'केवल आत्म-दर्शन' की अपेक्षा 'आत्म-दर्शन-युक्त जीवन-दर्शन' ही सर्वश्रेष्ठ है, इसमें तनिक भी शंका के लिए अवकाश नहीं है।

ब्रह्मविद्या अथवा आत्म-दर्शन भले ही सर्वश्रेष्ठ विद्या हो, अध्यात्म-विद्या तमाम विद्याओं की शिरोमणि क्यों न हो, मनुष्य को सम्पूर्ण विकास की दीक्षा देने की सामर्थ्य उसी में क्यों न हो, ब्रह्मविद्या को आखिरकार जीवन की और जीवन-दर्शन की ही सेवा करनी है।

हमारा मतलब किसी श्रेष्ठ मानव-नेता का आतिथ्य करने का क्यों न हो, उसके परिचय का पूर्ण लाभ हम तभी उठा सकते हैं जब हम उस नेता के साथ उसकी जीवन-संगिनी पत्नी, उसके बाल-बच्चे, उसके रहस्य-मंत्री और उसके अन्तेवासी सेवकों को भी आमंत्रण दें; क्योंकि उस नेता का व्यक्तित्व और उसका अध्यात्म उन सबको साथ लेकर ही प्रकट होता है।

अध्यात्म-विद्या, आत्मविद्या, वैराग्य-विद्या, वैराग्य-साधना, धारणा-ध्यान-समाधि आदि आत्मयोग के पीछे हजारों बरस व्यतीत करने के बाद उसी सिद्धि के बल पर अब हमें जीवन-साधना करनी है, जीवन-योग को पाना है।

और वह भी केवल व्यक्तिगत जीवन का नहीं, केवल पारिवारिक और राष्ट्रीय जीवन का भी नहीं, समस्त मानव जीवन का, विश्वव्यापी, इतिहासव्यापी मानव जीवन का दर्शन और योग हमें प्राप्त करना है। इसके लिए हमें

विश्वात्मा, विश्व-जीवन, विश्व-मोक्ष और विश्व-साधना की चर्चा करनी है। यही है हमारा युगकार्य। इसलिए अब हमें इसी के ब्योरे में उतरना है; घुसना है, फिर वह चाहे कितना जटिल क्यों न हो। ब्रह्मविद्या के सहारे हम विराट जीवन-विद्या के माहिर बनेंगे; इससे कम ध्येय से, कम महत्वाकांक्षा से, हमें संतोष नहीं होगा, युगसेवा हमसे संपन्न नहीं होगी। इस एक जीवन-साधना से ही हमारा जीवन सफल होगा और जीवन-स्वामी के आशीर्वाद हमें मिलेंगे।

('जीवनयोग की साधना' पुस्तक से)

सत्यमेव जयते

अनुभव ऐसा नहीं है कि सत्य की ही सदा विजय होती है। यदि होती तो सत्य को कोई छोड़ता क्यों?

इससे 'सत्यमेव जयते' का लोग यह अर्थ करते हैं कि "अंत में सत्य की विजय होती है।" परंतु किसके अंत में? सृष्टि का तो अंत है नहीं। मनुष्य का अंत है। हर एक घटना का अंत है। किसी मनुष्य को अपनी सत्यवादिता के कारण सारे जीवन दुख, अन्याय और पराजय भोगनी पड़े और जीवन का अंत आने पर लोग उसकी कदर करें, तो उससे उस मनुष्य को क्या लाभ हुआ? सत्य की विजय समय पर हो तभी वह काम की है!

ऐसी वृत्ति के लोगों को विश्वास दिलाना कि अंत में सत्य की ही विजय है, उनकी चिढ़ बढ़ाने जैसा है। इससे अधिक अच्छा तो सत्य की फलश्रुति ही बदल डालने वाला जैन-वचन है—'सच्चं लोगम्मि सारभूयं'—इस दुनिया में साररूप तो सत्य है, बाकी सब निस्सार है। प्रेम सत्य का होना चाहिए, विजय का नहीं, दुनियावी लाभ का नहीं।

सत्य के पालन से हमारा तेज बढ़ता है, चारित्र्य उन्नत होता है; सत्य से धैर्य की सिद्धि होती है। जिसके पास सत्य है, उसका धीरज कभी खत्म नहीं होता और सत्य से जो आन्तरिक संतोष मिलता है, उसकी बराबरी कर सकने वाली कोई दूसरी चीज दुनिया में है ही नहीं।

इस दृष्टि से विचार करने पर 'सत्यमेव जयते' का हमें नया ही अर्थ मिलता है। हृदय-शक्ति का बाह्य सृष्टि के साथ जितना संबंध है, सत्य की उतनी विजय बांह्य सृष्टि में भी है। परंतु सच्चा लाभ आंतरिक संतोष का है। सत्य की विजय आंतरिक होती है और वह अंत में नहीं, बल्कि

सदा, अखंड होती रहती है।

जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र सत्य का पालन करता है उसे आत्म-संतोष, आत्म-प्रतिष्ठा और आत्म-तेज प्राप्त होता है। यही परम लाभ है।

सत्य की विजय आंतरिक होती है, यह भाव बताने के लिए ही मालूम होता है, उपनिषद् के ऋषियों ने यहाँ पर 'जि' जैसी परस्मैपदी धातु को आत्मनेपदी बनाया है। संस्कृत व्याकरण में परस्मैपदी और आत्मनेपदी प्रयोग होते हैं। इनमें आत्मनेपदी अपने लिए और परस्मैपदी दूसरे के लिए होता है। वह भेद अब बहुत नहीं पाया जाता; परंतु मूलतः आत्मनेपदी प्रयोग वही है, जिसका फल अपने ही लिए होता है। अंग्रेजी में जहाँ सब्जेक्टिव शब्द आता है वहाँ हम 'आत्मनेपदी' रख सकते हैं। जहाँ ऑब्जेक्टिव शब्द हो, वहाँ शायद 'परस्मैपदी' चलेगा। 'आत्मने' का अर्थ बताया है—''आत्मार्थफल बोधनाय।''

('धर्मोदय' पुस्तक से)

अद्वेष-दर्शन

महावीर आदि जैन तीर्थंकरों ने और आज के युग में महात्मा गांधी ने अहिंसा-दर्शन को प्राधान्य दिया। जैन-दर्शन में माँसाहार निषेध और जीवदया को प्रधानता मिली। महात्माजी ने वैष्णवोचित जीवहत्या निषेध को मान्यता देते हुए देश के सामने और दुनिया के सामने अहिंसक ढंग से याने सत्याग्रह के द्वारा अन्याय का प्रतिकार करने का उपाय रखा। हम युद्ध न करें, कानून के नाम से भी मनुष्य-वध न करें, इस स्थूल अहिंसा से लेकर मनुष्य मनुष्य का शोषण न करे ऐसी सूक्ष्म अहिंसा तक गांधीजी अहिंसा दर्शन को ले गए हैं। अहिंसा ही सब धर्मों की और सामाजिकता की बुनियाद होने के कारण इस दर्शन का जोरों से विकास होने के दिन अब आए हैं।

इसी अहिंसा-दर्शन का एक पहलू अत्यन्त महत्व का होने से उसका कुछ चिंतन-मनन करने का यहाँ सोचा है।

मनुष्य जाति को हिंसा से उठाकर अहिंसा की ओर ले जाना यही अहिंसा-दर्शन की साध है। मनुष्य जीवन हिंसा से भरा हुआ है। जीव जीव को खाकर ही जीता है। यह है वस्तुस्थिति। इसे शायद हम स्वभाव-धर्म

कह सकते हैं। आहार माँस का हो, दूध, अंडे आदि का हो, धान्य का हो, या कंद-मूल-फल और फूल-पत्ते का हो, उसमें हिंसा तो आती ही है। फिर वह हिंसा स्थूल हो या सूक्ष्म हो। ऐसी आहार-प्रेरित हिंसा को कम करते जाना, यही है अहिंसा धर्म का प्रस्थान। इसलिए मनुष्य कहता है, कि आहार के लिए होने वाली सूक्ष्म हिंसा को क्षम्य मानना ही चाहिए।

आत्मरक्षा के लिए हिंस्र प्राणी को अथवा हिंस्र मनुष्य को मारना हिंसा तो है ही, लेकिन उसे भी क्षम्य मानना चाहिए। (क्षम्थ ही नहीं, विहित मानना चाहिए ऐसा भी कहने वाला पक्ष है।) जब तक गांधीजी के सत्याग्रहरूपी अहिंसक प्रतिकार का आविष्कार नहीं हुआ था, तब तक सारी दुनिया मानती थी कि आत्मरक्षा के लिए आक्रमणकारी की हत्या करनी पड़े तो ऐसी हत्या और ऐसा युद्ध धर्म्य है, स्वर्ग को पहुँचाने वाला है।

धर्मकार कहते हैं कि इस संसाररूपी नदी या समुद्र को लाँघकर मनुष्य को उस पार ले जाने वाला साधन यह शरीर ही है। (तैरकर उस पार ले जाने के साधन को तीर्थ कहते हैं।) इस तीर्थ को निभाने के लिए और बचाने के लिए जो हिंसा होती है, वह क्षम्य है। मोक्ष पाने में ऐसी हिंसा बाधक नहीं है, ऐसा निर्णय कई पंडितों ने दिया है। यज्ञ में पशुओं को मारने वाले ब्राह्मणों ने यहाँ तक कहा कि यज्ञ के लिए होने वाली पशुहिंसा हिंसा है नहीं। ऐसे वचन को आज कौन मानेगा? लेकिन यज्ञ का व्यापक अर्थ करके कोई कह सकता है कि समाज-कल्याण के लिए जो बलिदान दिया जाता है, हिंसा की जाती है, वह धर्म्य है। इसलिए उसका विरोध तो नहीं होना चाहिए।

गांधीजी कहेंगे, यज्ञ में अपना ही परिश्रम अर्पण करने की बात होती है। अपने ही प्राण अर्पण करने तक मनुष्य जा सकता है। यज्ञ मात्र आत्मयज्ञ ही हो सकता है।

यह सारी चर्चा अनेक दफे हो चुकी है। यहाँ इसका स्मरण किया केवल प्रस्तावना के रूप में। जो हिंसा पूरी तरह से त्याज्य है, जिसे हम धर्म्य नहीं कह सकते, जिसका बचाव हो नहीं सकता और जो हिंसा हमारा पतन करती है, पात करती है, (पातक=अधःपात करने वाला तत्व) वह होती है द्वेषमूलक। इसलिए अगर हम अद्वेष को अपना व्रत बना लेवें तो सबसे बड़ी और सब तरह से त्याज्य ऐसी हिंसा से हम बच ही जाएँगे।

गीता ने आदर्श भक्तों का वर्णन करते एक मारके का श्लोक दिया है। इसमें अहिंसा-दर्शन की सारी (पूरी) साधना क्रमशः आती है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्; मैत्रः; करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः सम-दुःख-सुखः क्षमी।।

परम धर्म समझकर अहिंसा की साधना करने वाला आदमी सबसे प्रथम अपने हृदय से द्वेष को निकाल देवे।

जब हम चाहते हैं कि किसी का नुकसान हो, किसी की प्रतिष्ठा टूट जाय, किसी का नाश हो जाय तब कहना चाहिए कि हम उसका द्वेष करते हैं। जो लोग हमारा नुकसान करते हैं, हमको दबाते हैं, हमारे विकास में विघ्न डालते हैं, उनका द्वेष करना स्वाभाविक है। लेकिन उसी चीज को टालना, द्वेष से ऊँचे उठना हमारे लिए उन्नतिकर है। जो लोग हमारी इच्छा के अनुसार नहीं चलते अथवा जिन्हें हम पराया अथवा प्रतिकूल समझते हैं, उनका भी हम द्वेष करते हैं, हालाँकि ऐसा करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। हमारी इच्छा के अनुसार चलने के लिए दुनिया थोड़े ही बँधी हुई है! हमने किसी को पराया माना उसमें उस बेचारे का क्या दोष? उसका द्वेष करना हमारा ही दोष है। अथवा कहिए कि हमारा ओछापन है।

अब चंद जबरदस्त लोग चाहते हैं कि आसपास के सब लोग उनके कहे अनुसार चलें और दबकर रहें, ऐसा नहीं किया तो तुरंत उनका द्वेष करने लगते हैं। उनका सूत्र है—दोज हू आर नॉट अण्डर अस, वी टेक दैम टु बी अगेन्स्ट अस। यह तो साम्राज्यवादी सूत्र हुआ। ऐसों का द्वेष उनके लिए और दुनिया के लिए शापरूप है।

द्वेष करने वाले दुर्जनों का और भी एक प्रकार है। ये लोग अन्याय, अत्याचार करना चाहते हैं। दुनिया को लूटना, दबाना चाहते हैं और ऐसे कुकर्म में लोगों की मदद चाहते हैं। मदद देने से जो लोग इन्कार करते हैं, उनका भी ये लोग द्वेष करते हैं।

द्वेष करने का और एक क्षेत्र रह गया।

जिनका नुकसान हम करना चाहते हैं अथवा सकारण या निष्कारण जिनका विरोध करने की हमारे मन में तीव्र इच्छा रहती है, लेकिन ऐसा करने की ताकत या हिम्मत नहीं है, उनका द्वेष करना, उनको गालियाँ देना, 'तुम्हारा सत्यानाश हो' कह करके उनको शाप देना और उनकी निन्दा करते

रहना, यह भी द्वेष का एक निर्वीर्य किंतु उत्कट प्रकार है।

ऐसे द्वेषों से किसी का भी लाभ नहीं है; हानि ही है।

जिनका हम द्वेष करते हैं उनका नुकसान हो या न हो, द्वेष करने वाले हम लोगों का नुकसान तो जरूर होता ही है। द्वेष करने वाले का अधःपात होता है। उसका लहू जल जाता है। इस तरह द्वेष असामाजिक, अकल्याणकारी और अनुन्नतिकारी तत्व है।

गीता कहती है कि सबसे पहले सब भूतों के प्रति द्वेषभाव छोड़ दो। अद्वेष वृत्ति रखो। उसके बाद मैत्री का उदय होगा। तुम्हें सबों के प्रति अद्वेषभाव रखना है; मैत्री रखनी है और दुखी लोगों के प्रति करुणा।

यह सब तब होगा, जब मनुष्य साधना के द्वारा अपने लोभ को जीत लेगा, अहंकार को जीत लेगा, सुख-दुख से परे रहने के लिए तितिक्षा बढ़ाएगा, और प्रमादी लोगों के प्रति उदारता से क्षमावान बनेगा।

इस एक श्लोक में अहिंसा की पूरी साधना आ जाती है। ऐसी साधना का प्रारंभ अद्वेष से करना है। अद्वेष-दर्शन ही अहिंसा-दर्शन की कुंजी है।

गांधी-नीति का भविष्य

गांधी जयंती हर साल आती है और आती रहेगी। धीरे-धीरे दूसरी जयन्तियों की तरह यह भी एक रिवाज हो जाएगा। लेकिन इस साल गांधी जयंती का विशेष महत्व है, दो कारणों से।

एक कारण यह है कि सन् 1969 में भारतमाता और सारी दुनिया गांधी-जन्म-शताब्दी बड़ी धूमधाम से नहीं, किंतु किसी-न-किसी दृढ़ संकल्प से मनाने वाली है। उसकी तैयारी अबकी गांधी जयंती से शुरू होगी। पाँच साल के अंदर देश में ऐसा कुछ काम करना है कि गांधी-जन्म-शताब्दी तक भारत की जनता न केवल गांधी-विचार की नए सिरे से दीक्षा लेगी, किंतु ठोस कार्य भी शुरू करेगी।

दूसरा कारण कुछ नजदीक का है। गांधीजी के राजनैतिक उत्तराधिकारी भारत के जवाहरलाल के देहांत के बाद आने वाली यह पहली ही गांधी जयंती है। जवाहरलालजी के जाने के बाद चार महीने देश ने काफी संकट के देखे, काफी मनोमन्थन किया। अब हमें सोचना है कि जवाहरलालजी के जाने के बाद हमारे पास गांधी-विचार कितना सिलक (शेष) है, कितना

जीवित है और आगे देश की नैया को किस ओर ले जाना है। जब जवाहरलालजी जीवित थे, देश ने अपनी बागडोर उनके हाथ में सौंप दी और विशेष सोचे बिना विश्वास रखा कि उनके हाथ में भारत का भविष्य सब तरह से सुरक्षित है।

गांधीजी का कार्य जो लोग आगे चलाते थे और जिनको जनता गांधीवादी के नाम से पहचानती हैं, उन लोगों में से किसी ने भी जवाहरलालजी की नीति का कहीं भी विरोध नहीं किया। हालाँकि वे जानते थे कि गांधीजी की नीति और गांधीजी के कार्यक्रम में और जवाहरलालजी की नीति और कार्यक्रम में मौलिक भेद और अंतर है।

कारण स्पष्ट है। गांधीजी ने ही सब बातें सोचकर जवाहरलालजी को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था।

जवाहरलालजी निर्मल चारित्र्य के, प्रामाणिक, ईमानदार व्यक्ति थे। उन्होंने जब गांधीजी का नेतृत्व मंजूर किया, तब उसके पहले और उसके बाद भी उन्होंने अपने विचार कभी भी छिपाए नहीं थे। गांधीजी के साथ उनका कहाँ-कहाँ और कितना मतभेद है, उन्होंने साफ किया ही था। खानगी में और जाहिरा तौर पर अपने भाषणों में, लेखों में और किताबों में उन्होंने अपने विचार अनेक बार स्पष्ट किए थे। अर्थशास्त्री श्री के. टी. शाह के नेतृत्व में उन्होंने भारत की अर्थनीति का चित्र तैयार करने के लिए एक समिति भी मुकर्रर की थी। गांधीजी यह सब-कुछ जानते थे और जानकर ही उन्होंने जवाहरलालजी को देश का नेतृत्व सौंप दिया।

कारण स्पष्ट है। जवाहरलालजी की भारतनिष्ठा, स्वराज्य-प्राप्ति की तमन्ना और भारत के उद्धार के लिए जिस क्रांति की आवश्यकता है, उसे लाने के लिए अपना और देश का सर्वस्व अर्पण करने की तैयारी, इन तीन बातों में गांधीजी और जवाहरलालजी एक-दूसरे के निकटतम साथी थे। चारित्र्य की ईमानदारी और निर्भयता दोनों में एक-सी थी। यही कारण था कि अनेक तरह के स्वभाव-भेद, विचार-भेद और आदर्श-भेद होते हुए भी जवाहरलालजी ने गांधीजी को सिरछत्र मान लिया। दोनों के बीच पिता-पुत्र के जैसा संबंध ही कहेंगे।

गांधीजी ने भारत की हजारों बरस की आध्यात्मिक संस्कृति का निचोड़ दो शब्दों में दुनिया के सामने रख दिया था : सत्य और अहिंसा। निष्कपट

चारित्र्य और मानव हितकारी शांतिनिष्ठा। गांधीजी की व्यक्तिगत अध्यात्म-निष्ठा, सत्य और अहिंसा इन दो शब्दों में व्यक्त होती। जागतिक इतिहास के अध्ययन के फलस्वरूप जवाहरलालजी भी इन दो सिद्धांतों पर आरूढ़ हुए थे : निष्कपट, निर्मल चारित्र्य और उदात्त जागतिक शांतिनिष्ठा और युद्ध-विरोध।

गांधी और जवाहरलाल के बीच यह सबसे बड़ा साम्य था। केवल साम्य नहीं, अद्‌भुत ऐक्य था। इसी कारण जवाहरलालजी को भारत की नैया के लिए कर्णधार बनाया था। कूटनीति नहीं, किंतु पक्षपातरहित प्रकटनीति, युद्ध-विरोधी जागतिक शांतिनिष्ठा और आत्मनिष्ठा से प्रेरित निर्भयता, यही रही जवाहरलालजी की भारतनीति की मजबूत बुनियाद।

गांधीजी कहते थे कि उनका सारा प्रयास ग्रामराज्य के द्वारा रामराज्य की स्थापना के लिए है। लेकिन वे जानते थे कि सारे देश ने उस आदर्श को अपनाया नहीं था। भारतीय संस्कृति रामराज्य की स्थापना के लिए चाहे जितनी अनुकूल हो, पिछले 300-400 बरस का इतिहास उसके लिए पूरा अनुकूल नहीं था। गांधीजी जानते थे कि पठान और मुगलों के राज्यकाल में भारत ने जो अनुभव प्राप्त किया उससे अधिक अनुभव पोर्तगीज, फ्रेन्च, ब्रिटिश के संपर्क से भारत ने प्राप्त किया है। यूरोप का असर भारत पर जितना हुआ, उतना एशिया और अफ्रीका के किसी भी देश पर नहीं हुआ है। (जापान का अपवाद सब जानते हैं, लेकिन भारत जैसा पराधीन था वैसा जापान कभी भी पराधीन नहीं था।)

गांधीजी जानते थे कि अंग्रेजों के जाने पर देश का नेतृत्व अंग्रेजी जानने वाले और अंग्रेजी शिक्षा के असर-नीचे पले हुए नेताओं के हाथ में ही आने वाला है। उनके सामने पार्लियामेण्टरी सेल्फ गवर्नमेण्ट यानी लोक-नियुक्त स्वराज्य का आदर्श रहेगा। कांग्रेस के द्वारा उसी के लिए देश को तैयार करना है।

गांधीजी ने अपने कार्यकाल में बहुधर्मी भारत के सामने सर्वधर्म समभाव का आदर्श रखा, उसके लिए उन्होंने साधना यानी कोशिश भी काफी की। उसका असर हिन्दू समाज पर बहुत अच्छा हुआ। ईसाई, पारसी, यहूदी आदि लोगों पर भी उसका अच्छा असर हुआ। लेकिन मुस्लिम लीग के सामने गांधीजी हार गए। इसलिए गांधीजी को कांग्रेस का ही धर्मनिरपेक्षता

का आदर्श कबूल करना पड़ा। गांधीजी के पहले दादाभाई नौरोजी, रानाडे, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे मनीषियों ने जो धर्मनिरपेक्ष राजनैतिक आदर्श चलाया था, वही जवाहरलालजी को भी सब तरह से अनुकूल था।

अब रही भारत की औद्योगिक और अर्थनीति की बात।

इसमें गांधीजी का सारा प्रयत्न स्वावलंबन का, भारतीय संस्कृति-निष्ठा का और मानवीय अन्तिम कल्याण का था। इस बात को स्पष्ट करना जरूरी है।

गांधीजी जानते थे कि यूरोप-अमेरिका का शुद्ध अनुकरण करने की भारत की इच्छा रही तो भी अंग्रेजों का राज है तब तक वे इस नीति को सफल होने नहीं देंगे। रूई पैदा करने वाले भारत को कपड़े की मिलें चलाने में कितनी कठिनाई सहन करनी पड़ती थी, इसका साक्षी भारत का इतिहास है। भारत ने अपने जहाज चलाने की प्राणपण से कोशिश की, लेकिन अंग्रेजों ने बड़ी क्रूरता से उस प्रयत्न को दबा दिया।

ऐसे अनुभव के कारण ही गांधीजी ने सोचा कि औद्योगिक उन्नति के लिए सरकार की और धनिकों की मदद के बिना प्रजाकीय कौशल्य, प्रजाकीय संकल्प और प्रजाकीय संगठन के द्वारा जो हो सके वही करना चाहिए। इससे दो बड़े लाभ होंगे—(1) देश के हुनर-उद्योग और कारीगरी मरते-मरते बच जाएगी, गाँव वालों को रोजी मिलेगी, और (2) जनता की स्वावलंबी संगठन-शक्ति जाग्रत होगी।

अंग्रेजों का विरोध और धनिकों की उदासीनता होते हुए भी 'स्वदेशी' के बल पर ग्रामोद्योगों का संगठन करना, यही होगी स्वराज्य की उत्तम तैयारी।

यह हुआ एक उद्देश्य। दूसरा और तीसरा उद्देश्य दोनों सांस्कृतिक थे। प्राचीन काल से भारत ने हाथकारीगरी में और ग्रामोद्योगों में लोकोत्तर प्रवीणता हासिल की थी। यहाँ तक कि भारत का माल दूर देशों तक जाता था और वहाँ से इतना धन भारत में आता था कि लोग भारत को सुवर्णभूमि कहते थे। अंग्रेजों ने ईस्ट इण्डिया कंपनी के द्वारा हमारे ग्रामोद्योगों को कुचल डाला और यन्त्रोद्योगों से हाथकारीगरी को भी खत्म किया। स्वदेशी के आंदोलन के द्वारा यह सारा नुकसान धो डालने की बात थी।

और तीसरे उद्देश्य के पीछे गांधीजी की आध्यात्मिक, आर्थिक और राजनैतिक दूरदर्शिता थी जिसका महत्व आज नहीं, किन्तु 50 या 100 बरस

के बाद ज्यादा स्पष्ट होगा।

यन्त्रोद्योग के साथ बड़े-बड़े कल-कारखाने तैयार होते हैं, पूँजीवाद खड़ा होता है। पारतन्त्र्य जितना विनाशक है, उतना ही पूँजीवाद द्वारा होने वाला गरीबों का शोषण भी भयानक विनाशक होता है। स्वराज्य-प्राप्ति के साथ अगर पूँजीवाद का भी खतरा दूर हुआ तभी गरीब लोग सुखी होंगे और स्वराज्य कल्याणकारी सिद्ध होगा।

इसलिए गांधीजी ने खादी और ग्रामोद्योग पर इतना भार दिया और अपनी सारी शक्ति लगाई।

लेकिन गांधीजी जानते थे कि यन्त्रोद्योग आने वाला है। स्वराज्य होते ही कल-कारखाने बढ़ेंगे और भारत ब्रिटेन, जर्मनी, जापान और अमेरिका का कमोबेश अनुकरण करेगा। गांधीजी को यह पसंद नहीं था। लेकिन वे जानते थे कि इस बाढ़ को रोकना नामुमकिन है। उन्होंने यह भी देखा कि स्वराज्य के साथ अगर देश में समाजसत्तावाद आ गया और सरकार ही बड़े कल-कारखाने चलाएगी तो पूँजीवाद के द्वारा होने वाला गरीबों का शोषण टल जाएगा।

इसलिए उन्होंने अपने मन में एक समझौता मंजूर किया। खेती के बाद सबसे बड़ा उद्योग है वस्त्र-निर्माण का। अगर वह उद्योग ग्रामीण जनता के हाथ में रहा तो ग्रामीण जनता की खैरियत है। इसलिए उन्होंने चाहा कि सरकार और जनता खादी ग्रामोद्योग के बारे में उभयमान्य नीति का स्वीकार करें। फिर लोहा आदि बाकी के बड़े-बड़े उद्योग समाजवादी स्वराज्य सरकार भले ही यन्त्रोद्योग के रूप में चलावे।

नेहरू राज्यकाल में देशी और विदेशी पूँजी के सहयोग से और दोनों के सम्मिलित संगठन से बहुत-से कल-कारखाने शुरू हुए हैं और नए-नए शुरू हो रहे हैं। अगर इनमें अपेक्षित सफलता मिली तो देश का स्वावलंबन और आर्थिक सामर्थ्य बढ़ेगा। औद्योगिक कल-कारखाने बढ़ने से वैज्ञानिक प्रगति होती ही है, जिसके द्वारा होने वाला जीवन-परिवर्तन अपरिहार्य है।

लेकिन बड़े-बड़े कल-कारखाने चाहे जितने बढ़े, उनके द्वारा गाँवों में रहने वाली करोड़ों की संख्या वाली जनता की बेकारी और 'अल्पकारी' तुरंत दूर होने वाली नहीं है। इसलिए यन्त्रोद्योग और ग्रामोद्योग दोनों के लिए इस वक्त देश में स्थान है।

तब दोनों के बीच संघर्ष क्यों करें? गांधीजी का जीवन-तत्वज्ञान जिन्हें पूर्णतया मान्य है, वे अपनी पूरी शक्ति ग्रामोद्योगों के विकास के लिए लगावें और स्वराज्य सरकार पूरी उदारता से उन्हें सब तरह की मदद दे।

इस तरह राष्ट्र की औद्योगिक नीति दो धाराओं में बहेगी। स्वराज्य सरकार और उद्योगपति बड़े-बड़े कल-कारखाने चलावेंगे और देश की औद्योगिक आर्थिक सामर्थ्य बढ़ावेंगे। साथ-साथ विज्ञान का प्रचार भी होगा।

दूसरी धारा गांधीजी के अनुयायी सर्वोदयवादी, रचनात्मक कार्यक्रम चलाने वाले सेवकों के द्वारा बहेगी, जिसके फलस्वरूप बेकारी-अल्पकारी दूर होगी। कौशल्य, स्वावलंबन और ग्रामीण सहयोग की तालीम भी बढ़ेगी।

इस दोहरी नीति को समझौता कहें या सहयोग, काफी समय तक चलाना ही पड़ेगा। लेकिन वह भारत की स्थायी या अंतिम नीति नहीं होगी। इसके बारे में विस्तार से सोचना होगा। आज हम इतना ही कहेंगे कि यन्त्रोद्योगों के द्वारा विज्ञान और संगठन की मदद से सारी दुनिया का जो औद्योगीकरण आज दो सौ बरस से हो रहा है, उसकी मर्यादा अगले 100 बरस में आने वाली है। जब एशिया के और अफ्रीका के सब देशों का एक-सा औद्योगीकरण का सारा स्वरूप ही बदल जाएगा और समाज की नवरचना—आमूलाग्र नवरचना सोचनी पड़ेगी। उसके बारे में स्वतंत्र रूप से सोचना पड़ेगा। इस वक्त तो गांधी जयंती के साथ गांधी-नीति, नेहरू-नीति और भारत की भविष्य की नीति के बारे में सोचना जरूरी है। इस लेख में मुख्य-मुख्य बातें आ गई हैं तो भी देश-रक्षा की नीति, भाषा और साहित्य की नीति और भावनात्मक एकता का सवाल इन मुख्य विषयों पर ही गांधी जयंती का चिंतन प्रकट करना होगा।

मेरा धर्म

किसी ने पूछा, 'आपका धर्म क्या है?'

मैंने कहा, 'उसी की तो खोज में हूँ।' जन्म से मैं हिंदू हूँ। लेकिन हिन्दू कोई एक धर्म नहीं है। अनेक धर्मों का या सम्प्रदायों का वह एक परिवार है। कभी-कभी उन धर्मों की अंदर-अंदर नहीं बनती है, जैसे कि अविभक्त कुटुम्ब में कभी-कभी होता है। लेकिन इन दिनों इस परिवार के सब धर्मों की आपस में अच्छी बनती है। मैंने बचपन से इन सब धर्मों

का वायुमंडल प्यार के साथ और उत्साह के साथ आजमाया है। सब मुझे अच्छे लगे हैं।

बाद में परिवार के बाहर के पड़ोसी धर्मों के यहाँ भी जरा-जरा हो आया। बचपन से जो आदत है उसी के अनुसार उनके घर पर भी आत्मीयता बरतने लगा। मुझे तो उसमें कठिनाई महसूस नहीं हुई लेकिन मैं देख सका कि उनमें पारिवारिक उदारता कुछ कम है। मेरी आत्मीयता उन्हें अखरने लगी। लेकिन बेचारे करते क्या? मैंने जोरों से अपनी आत्मीयता चलाई। मुझे उनका घर पराया जैसा लगा ही नहीं। हाँ, मैंने अपने लिए एक नियम रखा था—सेवा लेनी कम, सेवा माँगनी कम, सेवा देनी बहुत कुछ। मैं कहता था, "अजी, मुझे पराया क्यों मानते हैं? मुझे अपने घर का ही मान लीजिए। घर के बुजुर्गों के प्रति आदर दिखाना मुझे अच्छा लगता है। सेवा करते आनन्द आता है। मुझे चाहिए सो इस घर के वायुमंडल में मुझे मिलता है। अगर मेरी कोई बात आपको अखरती हो तो कहिए, मैं सुधार लूँगा, सँभाल लूँगा।"

वे कहने लगे, "ऐसा तो है नहीं, आप हमारे प्यारे मेहमान हैं।"

मैंने कहा, "वही तो मुझे अखरता है। मुझे मेहमान क्यों कहते हैं? घर का कहिए। और कहीं भी रहने दीजिए। मैं आपका आतिथ्य लेने नहीं आया हूँ। अपना प्रेम महसूस करने आया हूँ।"

खैर, यह तो ऐसा ही चलेगा। मुझे तो सब धर्म अपने-से लगते हैं, लेकिन ज्यादा प्यारी है भक्ति। उसमें भी अभेद-भक्ति में जो आनन्द आता है वह तो और ही है। उस आनन्द को धन्यता ही कहना चाहिए।

लेकिन आपने पूछा, 'तुम्हारा यानी मेरा धर्म कौन-सा है?' एक तरह से सब धर्म मेरे हैं, लेकिन इस जवाब से मुझे जितना संतोष होता है उतना आपको नहीं होगा।

मेरी कठिनाई धर्म पसंद करने की नहीं है। मैं तो अपने को पूरा-पूरा नहीं पहचान सका हूँ। असली बात यह है कि मैं एक होते हुए भी एक नहीं हूँ।

मुझमें 'मैं-मैं' कहने वाले अनेक बसे हुए हैं। 'आई कांटेन मल्टीट्यूड्स'। सबके प्रति मेरी आत्मीयता है। हम लोगों में समन्वय है, किन्तु एक-वाक्यता नहीं है। अगर इनमें किसी एक 'मैं' की प्रधानता होती तो भी मैं अपना

धर्म कौन-सा है, कह सकता।

मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि 'भगवान्, मुझमें जो अनेक 'मैं' हैं उनमें से किसी एक को प्रधान बनाने की मुझे शक्ति दीजिए, तो मेरा बेड़ा पार होगा।'

भगवान् कहते हैं—बेशक वैसा करने से तुम्हारा बेड़ा पार होगा। तुम्हारे द्वारा बहुत बड़े काम होंगे। तुम्हारी प्रतिष्ठा बढ़ेगी, तुम युगपुरुष बनोगे। इतनी शक्ति तुममें है। लेकिन मैं तुम्हारे द्वारा अपना एक प्रयोग चला रहा हूँ। तुम्हारे अंदर एक 'मैं' की प्रधानता हुई तो तुम्हारा बेड़ा पार होगा, लेकिन मुझे अपना बेड़ा पार कराना है। इस दुनिया में किसी भी काल में सफलता के लिए एकांगिता की आवश्यकता होती है। एकांगिता के बिना एकाग्रता नहीं आती और एकाग्रता के बिना सफलता कहाँ से?

और अगर उत्कटता बढ़ी तो समन्वय में कुछ कमी होगी, इसलिए तुम्हें मैं एकांगी नहीं बनाऊँगा।

कॉलेज के दिनों में तुम ही ने तो व्रत लिया था कि "एक जीवन प्रयोगों के पीछे बरबाद करना है। 'कैरियर' के लिए कोशिश नहीं करूँगा। और अगर किसी भी कारण 'कैरियर' बनने लगा तो उसे तोड़ना, यही होगा मेरा जीवन-कार्य।"

"तुम्हारे इस व्रत को मेरा आशीर्वाद है। इसके पालन में मैंने तुम्हारी मदद की है, और करता रहूँगा। सर्वधर्म ही तुम्हारा धर्म है। सर्वमुक्ति में ही तुम्हारी मुक्ति है। सर्वसाधनाओं का जब समन्वय होगा तब तुम्हारी साधना होगी। उसके बाद तुम्हें कुछ करना नहीं होगा और इस शरीर द्वारा जीने का प्रयोजन भी नहीं रहेगा।"

यह सारा मेरे ध्यान में आता है, लेकिन पूरा-पूरा आत्मसात नहीं हुआ है। जब आत्मसात होगा तभी मैं कह सकूँगा कि मेरा, निजी मेरा धर्म क्या है?

परम स्नेही अंधकार

गोवा की राजधानी पणजी में एक बार मेरा व्याख्यान था। जगह छोटी और श्रोता अधिक होने पर भी सभा में गड़बड़ नहीं थी। मेरा भाषण साहित्य विषय पर था। लोग एकाग्रता से सुन रहे थे। इतने में बिजली बंद हो

गई और दीवानखाने में अमावस सरीखा घुप्प अँधेरा हो गया। पेट्रोमेक्स लाने के लिए कोई भागे, किसी ने कुछ और सूचना दी। थोड़ी देर ठहरकर मैंने सुझाया, "मित्रो, दीये की क्या दरकार है? आप लोगों ने मुझे देखा है, मैंने आपको देखा है। अपने विषय में हम रँग चुके हैं। प्रत्येक अपनी-अपनी जगह पर आराम से बैठा है। कुछ लोग खड़े हैं। हम अँधेरे में ही व्याख्यान आगे क्यों न चलावें? व्याख्यान के बाद प्रश्नोत्तरी चलाने की मेरी आदत है। यह प्रश्नोत्तरी भी एक-दूसरे का चेहरा देखे बिना चलाई जा सकेगी। चेहरे पर का भाव यदि न भी दिखाई दिया तो आवाज से एक-दूसरे की वृत्ति और कहने की खूबी तो ध्यान में आ ही सकेगी।"

मेरी यह खुशमिजाजी श्रोताओं को पसंद आई और सब शांत होकर एकाग्रता से सुनने लगे। सचमुच ही उस दिन का व्याख्यान और उसके बाद की प्रश्नोत्तरी आकर्षक और सजीव हो सकी। सभा का काम समाप्त हुआ और ऐन आभार-प्रदर्शन के वक्त कोई व्यक्ति एक मोमबत्ती ले आया। अपनी मौजूदगी प्रकट करने के लिए पेट्रोमेक्स भी मोमबत्ती के पीछे-पीछे आ गया। उसने लोगों की आँखें चौंधिया दीं। इससे हमें इतनी बात तो कबूल करनी चाहिए कि उसके प्रकाश के कारण सभा से लौटने वाले लोगों को अपने-अपने जूते खोजना सरल हो गया।

एक इस छोटे-से प्रसंग का इतने विस्तार के साथ वर्णन की जरूरत नहीं थी; लेकिन इस सभा में मुझे एक नया ही अनुभव हुआ। अंधकार में वक्ता और श्रोता के बीच निकटता अधिक अच्छी तरह स्थापित हो सकी थी। इतने उत्सुक लोग एकाग्रता से सुन रहे हैं, बड़े मार्मिक प्रश्न पूछ रहे हैं, उत्तर ठीक जँचने पर उसकी कदर भी करते हैं, और इतना होने पर भी किसी को किसी का चेहरा दिखाई नहीं देता और मानो इसी के कारण हम सब लोग अभिन्न मित्र हो गए हैं। एक-दूसरे को देख नहीं सकते, इस अड़चन के कारण सबको एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति हो गई थी और अँधेरे की अड़चन की भरपाई करने के लिए सभी लोग अपनी भलमंसी, सज्जनता और आत्मीयता की पूँजी का खुले दिल से व्यवहार करने लगे थे। मुझे लगा कि अंधकार ने एक तरह से उपकार ही किया है। अंधकार की इस शक्ति की तरफ मेरा ध्यान पहली ही बार गया।

एक बार फिर बिहार में संथाल लोगों की परिस्थिति देखने के लिए

हम मोटर से घूम रहे थे। शाम के समय एक गाँव में जा पहुँचे। एक पाठशाला की खाली इमारत में बैठकर हम लोगों ने गाँव के लोगों के साथ वार्तालाप शुरू किया। धीरे-धीरे प्रकाश कम होकर कुछ धुँधला हो गया। वहाँ के एक गृहस्थ से मैंने कहा, "अंधकार हो चला है, दीया ले आएँगे तो अच्छा होगा।"

आश्चर्य से मेरी तरफ देखते हुए वे बोले, "दीया! इस गाँव में दीया कहाँ से मिलेगा? सारे गाँव में एक ही दीया है और वह दिक्कु के दरवाजे के सामने है। यहाँ के हम लोग दीया कभी इस्तेमाल नहीं करते। सूर्य छिप गया कि हमारा करोबार समाप्त हो जाता है। सुबह पौ फटी कि हम लोग काम पर लग जाते हैं।"

1923 में जब जेल में था, शाम को हमें कोठरी में बंद कर देते थे और सुबह छह बजे के बाद बाहर निकालते थे। कोठरी में कभी दीया नहीं होता था। उन दिनों की मुझे याद आ गयी। लेकिन वहाँ कैदी भाग तो नहीं गया है, अपनी जगह पर ही है, इसकी तसल्ली करने के लिए पुलिस हाथ में लालटेन लिए दरवाजे के लोहे के सींखचों में से हमारी तरफ देखती थी। इस कारण क्षण-भर के लिए दीये के दर्शन होते थे। लेकिन यहाँ सारे गाँव में एक ही दीया और बाकी सर्वत्र पशु-पक्षियों का-सा जीवन। मैंने पूछा, "दिक्कु कौन है?" जवाब मिला, "इस प्रदेश में हम सब संथाल लोग हैं। हम लोगों के बीच कोई मारवाड़ी या कोई भी गैरसंथाली आकर रहता है, तो उसे हमारी भाषा में 'दिक्कु' कहते हैं। 'दिक्कु' याने 'पराया'।"

इस गाँव में जिस प्रकार एक ही दीया था, उसी तरह दिक्कु भी एक ही था। उसके भी घर में दीया नहीं था। सिर्फ घर के बाहर दरवाजे के पास एक घासलेट की ढिबरी जल रही थी।

मनुष्यों की बस्ती में अँधेरे का साम्राज्य! मैं बड़ी चिंता में पड़ गया। इन लोगों को इसका कुछ बुरा नहीं लगता। अँधेरा तो रात को आएगा ही। उसका दुख मानना चाहिए, यह बात भी इन लोगों के दिमाग में नहीं आती। भारतभूमि, भारतीय जीवन, भारतीय संस्कृति के बारे में बराबर बोलते रहने वाला मैं, मुझे इस दीप-विहीन जीवन की आज तक कल्पना ही नहीं थी। हिन्दुस्तान में ऐसा भी भू-भाग है, यह बात मुझे पहली ही बार मालूम पड़ी। थोड़ी देर सोचने पर मुझे लगा कि इन लोगों पर तरस

खाने से पहले मुझे अपने-आप पर ही तरस आना चाहिए।

एक सुनी हुई बात है। किसी श्रीमंत के घर में एक लड़का बहुत ही नाजुक दिल का था। घर में रात होने से पहले ही दीये जलाए जाते थे; लेकिन दीवार पर अपनी और अपने भाइयों की छाया का स्वरूप समझाकर बताने के बजाय अमीर बाप ने प्रत्येक कमरे में दो-दो तीन-तीन दीये रखने की व्यवस्था की। उद्देश्य यह था कि उठावदार छाया कहीं भी न पड़े। बच्चा जब तक सो नहीं जाता था तब तक दीये बुझाए नहीं जाते थे। बच्चे को पौ फटने से पहले नींद से उठने की आदत नहीं थी।

एक रात को लड़का आधी रात को ही जाग उठा। चारों तरफ अँधेरा ही अँधेरा है और बिछौने पर पास में माँ वगैरह कोई भी नहीं; यह देखकर वह चीख उठा और कमरे में कोई दीया लाए, उससे पहले ही डर के मारे लड़के के प्राण-पखेरू उड़ गए। प्रत्यक्ष घटित घटना के रूप में यह कहानी मैंने उस समय सुनी थी।

अँधेरे का डर भूत के डर जितना ही भयानक हो सकता है, इसकी कल्पना करके मैं अस्वस्थ हो गया था। उस समय मेरी उम्र भी ज्यादा बड़ी नहीं थी। लेकिन हमें अँधेरे की आदत थी। अपरिचित जगह अँधेरे में जाने पर डर जरूर लगता था, लेकिन अपनी छाया देखकर डर लगे, इतने अनजान हम कभी भी नहीं थे, बल्कि दीये के सामने उँगलियाँ धर के दीवार पर छाया के हिरण बनाने और हिरणों के सींग लड़ाने में हमें मजा आता था।

अंधकार का थोड़ा-सा मनन करने के पहले अंधकार के विषय में थोड़ा-सा उठावदार अनुभव कह दूँ। जिस दिन उपनिषद् में प्रार्थना पढ़ी—'तमसो मा ज्योतिर्गमय'—मुझे अँधेरे में से प्रकाश की तरफ ले चलो—उस समय अंधकार और प्रकाश ये जगत में बड़े सर्वव्यापी और परस्पर भिन्न जीवनतत्व हैं, यह बात ध्यान में आकर प्रकाश के प्रति भक्ति दुगुनी हुई। लेकिन इसके साथ ही साथ अंधकार भी एक व्यापक और करीब-करीब सार्वभौम तत्व है, इसकी कल्पना स्पष्ट हो जाने के कारण अंधकार का महत्व भी समझ में आया। आध्यात्मिक दृष्टि से हम अज्ञान को अंधकार कहते हैं। समस्त जीवन का विचार करते समय जगत का अंधकार और हृदयाकाश का अज्ञान—ये भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं, ऐसा उस समय प्रतीत हुआ।

एक बार एक कुटुम्ब पर दारुण प्रसंग आया था और घर के सब

बड़े लोग शोक में डूब गए थे। यह देखकर मन में विचार आया कि ईश्वर की कितनी बड़ी कृपा है कि इन बच्चों को कुटुम्ब पर आए हुए भीषण संकट की कल्पना ही नहीं हो रही है। अगर उन्हें सच्ची परिस्थिति की कल्पना हो सकती तो उनके कोमल हृदय पर आघात होने से उनके प्राण ही निकल जाते। मुर्गी के बच्चों का आकार बनने से पहले जिस प्रकार उन्हें अण्डे के कवच का रक्षण चाहिए, उसी प्रकार मन पक्का हो जाय तब तक के लिए बच्चों को ईश्वर ने अज्ञान का यह कवच दिया है। यह उसकी बड़ी कृपा ही है।

संसार में सार वस्तु क्या है और असार वस्तु क्या है, इसका ज्ञान अगर संसार के सब लोगों को एक ही समय, एक ही तरह हो जाय तो जगत का यह घटना-चक्र ही रुक जाएगा। मनुष्य असार को सार समझकर चलता है, इसलिए उसे जीने में आनन्द आता है, और बड़े जोश के साथ वह जीता है और कर्म करता है। और, ऐसा भी नहीं कि ये सब कर्म अच्छे ही होते हैं। मनुष्य कभी-कभी जीवन-भर एक-दूसरे से द्वेष करता है। राष्ट्र सदियों तक बैर चलाते हैं और महायुद्ध करके संहार का महोत्सव करते हैं। यह सब मूल में अज्ञान की ही चेष्टाएँ हैं। इसीलिए मनुष्य ने प्राचीन काल से प्रार्थना चला रखी है—'तमसो मा ज्योतिर्गमय।'

जब हम तत्वदर्शी होकर अथवा तत्वजिज्ञासु जीवन का विचार करते हैं तब देख सकते हैं कि जीवन और मृत्यु दोनों परस्पर पूरक, परस्पर पोषक और एक सरीखे आवश्यक तत्व हैं।

केवल अज्ञान और ज्ञान की ही यह बात नहीं है। अंधकार और प्रकाश का भी ऐसा ही है। अज्ञान यानी कम ज्ञान, अपूर्ण ज्ञान, धुँधला ज्ञान, भ्रमयुक्त ज्ञान, भ्रम से मिला हुआ ज्ञान, यही अज्ञान का अर्थ होता है। इसी तरह अंधकार का भी कम प्रकाश, अपूर्ण प्रकाश, ऐसा ही अर्थ करना चाहिए। रात को जहाँ हमें नहीं दिखाई देता वहाँ बिल्ली को दीखता है और वह बिना चूके चूहे पर झपट्टा मारती है, तब जो हमारे लिए अपूर्ण प्रकाश है वह बिल्ली के लिए पूर्ण है। इसके विपरीत दिन का प्रकाश बिल्ली और बाघ के लिए आवश्यकता से अधिक होने के कारण उनकी आँखें मिचमिचा जावें ऐसी प्रकृति की व्यवस्था है। फोटो खींचने के कैमरे की आँख का सूराख जिस प्रकार छोटा-बड़ा किया जा सकता है उसी प्रकार कुछ प्राणियों

की आँखों का 'डायफ्रेम' प्रकाश की मात्रा के मुताबिक कम-ज्यादा किया जा सकता है। अगर ऐसा न हो सके तो उन प्राणियों को अतिप्रकाश का अँधेरा या अंधापन सहन करना पड़ता। इसीलिए उलूक को दिवाभीत या दिवान्ध कहते हैं।

आवाज के बारे में भी यही बात है। आवाज के भी सूक्ष्म आंदोलन होते हैं। प्रति सैकेण्ड अमुक आंदोलन से कम आंदोलन हों तो आवाज सुनाई नहीं देती। चार हजार या दस हजार आंदोलन से ज्यादा आंदोलन एक सैकेण्ड में होने लगें तो भी आवाज एकदम गुम हो जाती है। अंधकार का भी ऐसा ही क्यों न हो? गीता में तो कहा है–

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।"

अध्यात्म के क्षेत्र में भगवान् शिव परमज्ञानी योगेश्वर हैं। पुराणकार कहते हैं कि व्यवहार के बारे में उनका सुस्त दिमाग चलता ही नहीं। मनुष्य का ज्ञानसप्तक और महादेव का ज्ञानसप्तक भिन्न होने चाहिए। (मनुष्य अपने गले से ज्यादा-से-ज्यादा 'सा रे ग म प ध नी सा' के तीन ही सप्तक निकाल सकता है। वह मन्द्र से नीचे नहीं जा सकता और तारसप्तक से ऊपर नहीं जा सकता। यह हुई गले की बात। कानों के बारे में भी इसी प्रकार दोनों सिरे की मर्यादा है।)

अब हम अंधकार की तरफ फिर से आवें। मैंने एक बार कुछ अंश मजाक में और कुछ अंश तात्विक वृत्ति से लिखा था–जिस स्थिति में कम दीखता है, उस स्थिति को अगर अंधकार कहें और अधिक दीखता है, उस स्थिति को प्रकाश कहें तो दिन में उजला धुप्प अँधेरा होता है, इसलिए हमें सिर्फ पृथ्वी और सूर्य ये दो ही खगोल दिखाई देते हैं। रात को कृष्ण प्रकाश फैलता है इसलिए हमें आकाश में लाखों खगोल दिखाई देते हैं। उन्हें हम तारे, नक्षत्र और तारकापुंज कहते हैं। दूरबीन की सहायता से हम इस कृष्ण प्रकाश को बहुगुना करते हैं, इसलिए हमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म आकाश स्थित तारे दीख सकते हैं। दिन का धवल अंधकार इष्ट समझें या रात के विश्वव्यापी कृष्ण प्रकाश को परम सखा समझें? विचार करके ही इसे निश्चित करना चाहिए।

शांति निकेतन में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर रात की प्रार्थना के समय

दीया हटा देते थे। रवीन्द्रनाथ ने यही परंपरा आगे चलाई। शांति निकेतन की यह पद्धति गांधीजी को इतनी पसंद आई कि उन्होंने भी रात की और सुबह की प्रार्थना के समय दीया हटा देने की परिपाटी चलाई।

कितने ही योगी, शाम को प्रकाश क्षीण होकर जब अंधकार शुरू होता है, उसी समय ध्यान में बैठना पसंद करते हैं, क्योंकि अंधकार एकाग्रता के लिए, अंतर्मुख वृत्ति के लिए विशेष पोषक होता है। रात को आकाश में असंख्य तारे चमकते हैं। जब चाँदनी होती है तब सिर्फ बड़े तारे ही दिखाई देते हैं और चन्द्रमा का प्रकाश सौम्य रूप से आकाश और पृथ्वी को काव्य की शोभा देता है कि अन्तर्मुख होकर ध्यान करने के लिए बाहर की परिस्थिति जरा भी बाधक नहीं होती।

आजकल की बिजली जहाँ-तहाँ अंधकार का संहार करती है और मन में उपशम पैदा होता हो तो उसे भगाकर उसके स्थान पर उत्तेजना उत्पन्न करती है। इस प्रकाश से अगर केवल रात का दिन हो जाता तो शिकायत इतनी नहीं थी। लेकिन यह उत्तेजना दिन में होने वाले काम भी नहीं करने देती और रात का विश्राम अथवा विश्राब्ध वार्तालाप भी नहीं होने देती। इसका प्रकाश यानी केवल उत्तेजना और कृत्रिमता। इसके कारण न करने के काम करने के लिए मनुष्य तत्पर होता है। किसी भी प्रकार का शुद्ध निर्णय करना ऐसे वक्त करीब-करीब अशक्य होता है।

और जो अंतर्राष्ट्रीय बनाव-बिगाड़ आज संसार-भर में चल रहा है, उसमें योगियों की साम्यबुद्धि होती ही है, ऐसा कौन कह सकता है? संसार-भर में तरह-तरह की उत्तेजना की धमाचौकड़ी चल रही है और ऐसे वातावरण में ही सारा बनाव-बिगाड़ होता है। तब ऐसा नहीं कह सकते कि यह सारा कृत्रिम प्रकाश मनुष्य जाति के कल्याण के लिए पोषक ही है।

भगवान् हमें ऐसे कृत्रिम प्रकाश में से शांतिदायक अंधकार की तरफ ले जाओ, ऐसी प्रार्थना करने के दिन सचमुच ही आ गए हैं। प्राकृतिक प्रकाश में मनुष्यता होती है। प्राकृतिक अँधेरे में आत्मीयता होती है और चिंतन को अवकाश भी मिलता है। कुदरती प्रकाश और कुदरती अंधकार, दोनों ईश्वर के दिए हुए प्रसाद हैं। दोनों में मनुष्य का व्यक्तित्व निखरता है और विकास पाता है। प्रकाश प्रवृत्तिपरायण होने के कारण गड़बड़ पैदा

कर सकता है। अंधकार में आत्मपरीक्षण को स्थान है और इसलिए वह आत्म-साधना के लिए विशेष अनुकूल है।

अंधकार को भावात्मक कहो चाहे अभावात्मक, अंधकार मनुष्य के मन के लिए, हृदय के लिए और आत्मा के लिए पोषक वस्तु है। बहुत-से बंधन काटकर छुटकारा देने वाली वस्तु हितकर है। सारी रात कमरे में प्रकाश रखने की सुविधा होने पर भी सोने वाला व्यक्ति अंधकार का ओढ़ना पसंद करता है। दिन में सोने वाला व्यक्ति भी प्रकाश कम करके सोता है। नींद जिस तरह थके हुए आदमी को आराम देकर ताजा करती है उसी प्रकार अंधकार भी थकान दूर करके ताजगी उत्पन्न करता है। और इसीलिए मनुष्य अंधकार में जाकर बैठता है तो उसे नई-नई कल्पनाएँ सूझती हैं, भरमाये हुए मनुष्य को संकट से मुक्त होने का मार्ग सूझता है और निराश मनुष्य को आशा की खुराक मिलती है। मेरा तो साफ अभिप्राय है कि जगत में अगर अँधेरा नहीं होता तो आज जितनी होती हैं उनसे ज्यादा आत्महत्याएँ होतीं। अँधेरे के शांत वातावरण में उत्तेजित मन स्थिर होता है, दूसरी तरफ का विचार करने लगता है, अन्तर्मुख होकर आत्मप्रवण हो सकता है और इहलोक के साथ-साथ परलोक का विचार होने के कारण मनुष्य में दिव्य-दृष्टि का उदय हो सकता है। अंधकार के पास यथेच्छ जगह होने के कारण भीड़ उत्पन्न किए बिना वह मनुष्यों को एक-दूसरे के समीप लाता है।

मृत्यु का रहस्य

जिस तरह दिवस और रात्रि मिलकर 24 घण्टे का दिन बनता है; शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष मिलकर महीना बनता है, उसी तरह जीवन और मरण मिलकर जिंदगी यानी व्यापक जीवन बनता है। दिवस-रात्रि की या उभय पक्ष की उपमा कइयों को नहीं जँचेगी। वे कहेंगे कि अहोरात्र 12-12 घण्टे के समान होते हैं। शुक्ल-कृष्ण पक्ष 15-15 दिन के होते हैं। जीवन-मरण का वैसा नहीं है। जीवन दीर्घकाल पर फैला हुआ, तना हुआ होता है। मृत्यु एक क्षण की चीज है। आखिरी साँस ले ली और जीना समाप्त हुआ। मृत्यु क्षणिक है। उसकी तुलना जीवन से कैसे हो सकती है?

लोग कहते हैं, शुक्ल पक्ष में प्रकाश होता है, कृष्ण पक्ष में अँधेरा।

क्या बात सही है? लोग कहते हैं, दिन सफेद होता है, रात काली। क्या यह बात भी शुद्ध सत्य है?

जिसे हम बारह घण्टे की रात कहते हैं, उसके प्रारम्भ में और अंत में संध्या-प्रकाश होता ही है।

पूर्णिमा की रात्रि सारी प्रकाशित होती है। अमावस्या की रात्रि को चन्द्रिका का अभाव रहता है। लेकिन बाकी के दिनों प्रकाश और अंधकार दोनों को कमोबेश स्थान है। हम इतना कह सकते हैं कि शुक्ल पक्ष में शाम को चन्द्र प्रकाश पाया जाता है, कृष्ण पक्ष में शाम को चन्द्र का दर्शन नहीं होता। बाकी दोनों पक्षों में प्रकाश और अँधेरा दोनों होते हैं।

हमारी जिंदगी में भी मृत्यु के बाद हमारे उसी जीवन का उत्तरार्द्ध शुरू होता है, जो पूर्वार्द्ध की अपेक्षा व्यापक और दीर्घकालिक होता है।

मनुष्य के मरण के बाद वह अपने समाज में जीवित रहता है। किसी का समाज छोटा होता है, किसी का बड़ा। मनुष्य अपने जीवन में जो कर्म करता है, विचार प्रकट करता है, ध्यान-चिन्तन करता है, उसका असर उसके समाज पर होता ही रहता है। चन्द बातों में मृत्यु के बाद यह असर ज्यादा होता है। मनुष्य ने अपने जीवन में जो-जो किया, समाज के साथ सहयोग किया या उसकी सेवा की, उसकी भली-बुरी विरासत उसके समाज को मिलती है और इस तरह वह समाज पर असर करता रहता है। वह है उसका मरणोत्तर जीवन।

महावृक्षों और पर्वतों की छाया दूर तक पहुँचती है। बुद्ध भगवान् और महात्मा गांधी जैसों का असर समाज में हजारों बरसों तक अपना काम करता है। इसलिए इन लोगों को हम दीर्घजीवी या चिरजीवी कहते हैं।

समूचे जीवन का विचार करते हुए कहना पड़ता है कि मृत्यु के इस तरफ का, पूर्वजीवन छोटा है, केवल तैयारी के जैसा है, सच्चा विशाल जीवन तो मृत्यु के बाद ही शुरू होता है। मृत्यु के पहले का जीवन पुरुषार्थी होने के कारण उसका महत्व खूब है। मृत्यु के बाद का जीवन परिणामरूप होने से व्यापक और दीर्घकालिक होता है। इसलिए उसका भी महत्व कम नहीं।

मृत्यु के बाद जो जीवन जिया जाता है, उसे हमारे धर्मग्रंथों में—उपनिषदों में—नाम दिया है साम्पराय। जो लोग बच्चों के जैसे अज्ञान

हैं, अंधे हैं, वे साम्पराय को नहीं देख सकते। ''न साम्परायः प्रतिभाति बालम्।''

जो ज्ञानी है, जानकार है, वह मरणोत्तर जीवन को और उसके महत्व को पहचानता है। वह कहता है कि इतने बड़े महत्व के और सुदीर्घ साम्पराय को नुकसान पहुँचे, ऐसा कार्य मैं अपने जीवन में—पूर्वतैयारी के काल में—नहीं करूँगा। बचपन में अगर क्षणिक उन्माद के कारण ब्रह्मचर्य को नष्ट किया तो मनुष्य का सारा-का-सारा गृहस्थाश्रम बिगड़ जाता है। इसलिए दीर्घदर्शी आत्महित समझने वाला कहता है कि गृहस्थाश्रम का पूरा आनन्द लेने के लिए ब्रह्मचर्य का पूर्वाश्रम मैं संयम से, शुद्ध रूप से व्यतीत करूँगा।

मेधावी मनुष्य कहता है कि जिह्वालौल्य को क्षण-मात्र तृप्त करने के लिए अगर मैं अपथ्य आहार या अति-आहार करूँगा तो दीर्घकाल तक मुझे बीमार रहना पड़ेगा और मैं आरोग्यानन्द और जीवनानन्द से वंचित रहूँगा। इसलिए मैं अपथ्यसेवन नहीं करूँगा। संयम के द्वारा उत्कट जीवनानन्द प्राप्त होता है, उसी को लूँगा। मरणोत्तर जीवन का जिसे खयाल है और जिसको इस बात की जागृति और स्मृति रहती है, उसी का जीवन शुद्ध और समृद्ध होता है।

साम्पराय में स्थूल देहगत जीवन को अवकाश नहीं रहता। मनुष्य अपने समाज में ही जीवित रह सकता है और उस जीवन में उसका पुरुषार्थ अथवा प्रेरणामय जीवन बढ़ता ही जाता है। इस्लाम में एक सुंदर कल्पना पाई जाती है! किसी मनुष्य ने मुसाफिरों के लाभार्थ रास्ते के किनारे एक कुआँ खोदा। उसके संकल्प और परिश्रम के अनुरूप इस शुभ कर्म का (पूर्त का) उसे पुण्य मिला। अब दिन-पर-दिन जितने मुसाफिर इस कुएँ से लाभ उठाते हैं, उतना उस आदमी का सबाब (पुण्य) बढ़ता जाता है। अगर यात्रियों का रास्ता बदल गया और लोगों ने इस रास्ते जाना छोड़ दिया तो पुण्यकारी का पुण्यसंचय ज्यादा नहीं बढ़ेगा। पुण्यकारी का सबाबमय जीवन—पुण्य जीवन—बढ़े या घटे, समाज के हाथ में है। लोग अगर उसे याद करते रहे तो उसकी मरणोत्तर आयु दीर्घ होगी। लोग उसे भूल गए, उसके काम का असर मिट गया तो उसके साम्पराय की मियाद खत्म होगी।

अब सवाल यह आता है कि अगर मरण के बाद हमारा जीवन सामाजिक स्वरूप का ही रहने वाला है तो मरण-पूर्व के 'इस जीवन में' हम समाजी

जीवन ही व्यतीत क्यों न करें? स्वार्थवश संकुचित होकर और इन्द्रियवश होकर प्रमत्त जीवन, असमाजी जीवन व्यतीत क्यों करें? जिस तरह मरणोत्तर जीवन सामाजिक रहेगा, वैसा ही जीवन अगर मृत्यु-पूर्व व्यतीत किया तो मृत्यु के इस पार और उस पार एक ही प्रकार का शुभ जीवन होगा।

जिसे हम समाजवादी ढाँचा कहते हैं, वह हमारे आध्यात्मिक, सामाजिक जीवन का बाह्य रूप है। जिसे हम सर्वोदयकारी पुण्य जीवन कहते हैं, वह उसका आंतरिक स्वरूप होगा। वेदांत ने उसे नाम दिया—विश्वात्मैक्य भावना, भूमा-स्वरूप जीवन। आत्मौपम्य उसकी साधना है।

आत्मौपम्य की यह कल्पना कुछ स्पष्ट करनी चाहिए।

मनुष्य को जब भूख लगती है तो वह आहार ढूँढने लगता है। आहार को प्राप्त करके उसका उपभोग करता है। यह हुआ प्राकृतिक जीवन। लोग इसे पशु-जीवन भी कहते हैं। लेकिन मेरे पेट में भूख की वेदना शुरू होते ही अगर मैं औरों की भूख का भी साक्षात्कार करूँ और उनकी क्षुधा का निवारण करने का यत्न करूँ तो वह धार्मिक जीवन हुआ। वह साम्पराय के लिए पोषक होगा। मैं जो कुछ भी पुरुषार्थ करूँ, उसका लाभ सबको देने की अगर वृत्ति रही तो वह सर्वोदयकारी विश्वात्मैक्य-प्रेरित ब्राह्म जीवन होगा। जो कुछ भी ज्ञान मैंने प्राप्त किया, वह सबको दे दूँ, उसका दुख और संकट अपना ही मान लूँ और सबके साथ जो मुझे मिले, उतना ही मेरा अधिकार है, ऐसा समझकर चलूँ, तो मृत्यु के इस पार का और उस पार का जीवन एकरूप होगा, और यही है मृत्यु पर विजय।

एक साधु छोटी-सी झोंपड़ी में रहता था। हाथ-पाँव फैलाकर आराम से सोता था। इतने में जोरों से बारिश आयी। किसी ने बाहर से आवाज देकर कहा, "मेरे लिए अंदर जगह है?" साधु ने कहा, "अवश्य।" उसने अपने फैले हुए हाथ-पाँव समेट लिए और पास-पास सो गए। बारिश बढ़ी और दूसरे दो यात्री आए। उन्होंने पूछा, "जगह है?" दोनों ने कहा, "अवश्य! आप अंदर आइए।" अब दो के चार हो गए। झोंपड़ी में सोना अशक्य था। चार आदमी बैठकर बातें करने लगे और ऐसे ही रात व्यतीत करने का उन्होंने निश्चय किया। इतने में चार और आए। उनका भी इन चारों ने स्वागत किया। अब बैठना नामुमकिन हो गया। आठ-के-आठ झोंपड़ी में खड़े होकर भगवान् का भजन करने लगे और बारिश से भगवान् ने बचाया,

संतों और अवतारी पुरुषों ने मृत्यु पर विजय पाने की जो बात की है, वह यही है। मामूली मौत से न बुद्ध भगवान् बच सके, न महावीर। सबको शरीर छोड़ना ही पड़ा; लेकिन उन्होंने आत्मनाशरूपी मृत्यु पर विजय पाई। इसी को वे ढूँढते थे।

सामान्य जनता मृत्यु से इतनी घबराई हुई, डरी हुई रहती है कि मृत्यु को पहचानना, उसका यथार्थ स्वरूप समझना उसके लिए कठिन होता है। समझाने का कोई प्रयत्न ही नहीं करते, नहीं तो मृत्यु हमारा सबसे श्रेष्ठ मित्र है। उसके घर आए हुए किसी को निराशा नहीं हुई।

येथें नाहीं झाली कुणाची निराश
आल्या याचकास कृपेविशीं।।

न यहाँ इनके पास आए हुए किसी भी याचक को कृपा के बारे में निराशा ही हुई है।

मरणोत्तर जीवन और पुनर्जन्म एक चीज नहीं है। दोनों का भेद समझना चाहिए।

हम मानते हैं कि मनुष्य मृत्यु के बाद अपने कर्मों के अनुसार नया जन्म लेता है। अगर किसी क्रूर आदमी का देहांत हुआ तो शायद उसे शेर या भेड़िये का जन्म मिलेगा। वहाँ वह अपनी क्रूरता पूरी तरह से आजमाएगा।

अब अगर उस असली क्रूर मनुष्य का लड़का पिता का श्राद्ध करता है और उसे पिण्ड देता है तो वह किसको खिलाता है? उस शेर को, जो क्रूर आदमी का नया जीवन है? उस शेर की तृप्ति तो माँस से ही हो सकेगी। उस शेर को खिलाना, उसके पाँव संवहन करना (पगचंपी करना) पुत्र का धर्म नहीं है। उस क्रूर आदमी का पुत्र जब पिता का श्राद्ध करता है तब वह उसके मनुष्य जीवन के मरणोत्तर विभाग को, उसके समाजगत जीवन को पुष्ट करने की कोशिश करता है। पिता के व्याघ्र जीवन से उसे मतलब नहीं है। जब किसी सज्जन के जीवन की प्रेरणा समाज हजम कर लेता है, पूरी-पूरी हजम करके समाज ऊँचा चढ़ता है, तब उस सज्जन का मरणोत्तर जीवन सम्पूर्ण हुआ, कृतार्थ हुआ, अनन्त में विलीन हुआ। यही है सच्चा मोक्षानन्द या ब्रह्मानन्द!

एक जीवन की साधना पूरी होने पर जो कुछ भी अनुभव—कीमती अनुभव है, उसे लेकर हम नए-ताजे जीवन में प्रवेश करते हैं।

इसका आनन्द मनाने लगे। यही है आत्मौपम्य। जो कुछ भी पाया, सबका है, सबके साथ समविभाग करके पाना है, यही है आत्मौपम्य का तरीका—आत्म-ऐक्य की साधना।

अब अगर ऐसी साधना हम करते रहे तो मृत्यु का डर नहीं रहेगा। मृत्यु भी जीवन-साधना का एक अंग ही है। सुख और दुख, जीवन और मरण दोनों साधनारूप हैं। सुख और जीवन कुछ छिछले हैं। उनकी ज्ञानोपासना मंद होती है। दुख, संकट, निराशा और मरण इनकी साधना गहरी होती है। इनके द्वारा जीवन का साक्षात्कार सम्पूर्ण होता है। इनकी ज्ञानोपासना तेज होती है। इसीलिए साधना में इनका महत्व अधिक है।

अगर जिंदगी में किसी को केवल दुख-ही-दुख मिला तो उसकी साधना बधिर हो जाएगी, उसमें नास्तिकता आ जाएगी। इसके विपरीत किसी के जीवन में अगर सुख-ही-सुख रहा तो उसका जीवन उथला होगा। उसका आत्मौपम्य टूट जायगा और उसका सफल जीवन भी साधना की दृष्टि से विफल होगा। इसलिए अगर भगवान् की कृपा रही तो सुख और दुख, सफलता और विफलता दोनों हमें प्रचुर मात्रा में मिलेंगे। मृत्यु के साक्षात्कार के द्वारा ही मनुष्य जीवन का सर्वांगीण गहरा अनुभव कर सकता है।

अगर किसी साथी को अपने काम की पूर्वतैयारी में हम शरीक होने को बुलावें और फलभोग के समय उसे दूर करें तो उसे शिकायत करने का अधिकार रहेगा। यही न्याय है जीवन के बाद मरण के अधिकार का। किसी अंग्रेज ने सुन्दर शब्दों में कहा है—'मरण हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' (इट इज अवर प्रिविलिज टु डाई) अगर भगवान् किसी को मौत से वंचित रहने की सजा देगा तो मनुष्य के लिए जीना दुश्वार होगा। उसकी कमाई का फल उसे न मिले तो वह अन्याय होगा।

ईसाई लोगों के ग्रंथों में एक वचन हम पाते हैं—'पाप के फलस्वरूप मृत्यु नाम की रोजी मिलती है।' (दी वेजिज ऑव सिन इज डैथ) सामान्य अर्थ में वचन गलत है। मरण तो सबके लिए अवश्यंभावी है। ईश्वर का प्रसाद है। जो पाप करते हैं वे ईश्वर के इस प्रसाद का सदुपयोग नहीं कर सकते। अध्यात्म-जागृति नष्ट होना ही मरण है, जिसका उक्त वाक्य में जिक्र है। पाप बढ़ने से मनुष्य की आत्म-जागृति क्षीण होती है। उसका जीवन आत्मविमुख और देहात्मवादी होता है।

संतों और अवतारी पुरुषों ने मृत्यु पर विजय पाने की जो बात की है, वह यही है। मामूली मौत से न बुद्ध भगवान् बच सके, न महावीर। सबको शरीर छोड़ना ही पड़ा; लेकिन उन्होंने आत्मनाशरूपी मृत्यु पर विजय पाई। इसी को वे ढूँढते थे।

सामान्य जनता मृत्यु से इतनी घबराई हुई, डरी हुई रहती है कि मृत्यु को पहचानना, उसका यथार्थ स्वरूप समझना उसके लिए कठिन होता है। समझाने का कोई प्रयत्न ही नहीं करते, नहीं तो मृत्यु हमारा सबसे श्रेष्ठ मित्र है। उसके घर आए हुए किसी को निराशा नहीं हुई।

येथें नाहीं झाली कुणाची निराश
आल्या याचकास कृपेविशीं।।

न यहाँ इनके पास आए हुए किसी भी याचक को कृपा के बारे में निराशा ही हुई है।

मरणोत्तर जीवन और पुनर्जन्म एक चीज नहीं है। दोनों का भेद समझना चाहिए।

हम मानते हैं कि मनुष्य मृत्यु के बाद अपने कर्मों के अनुसार नया जन्म लेता है। अगर किसी क्रूर आदमी का देहांत हुआ तो शायद उसे शेर या भेड़िये का जन्म मिलेगा। वहाँ वह अपनी क्रूरता पूरी तरह से आजमाएगा।

अब अगर उस असली क्रूर मनुष्य का लड़का पिता का श्राद्ध करता है और उसे पिण्ड देता है तो वह किसको खिलाता है? उस शेर को, जो क्रूर आदमी का नया जीवन है? उस शेर की तृप्ति तो माँस से ही हो सकेगी। उस शेर को खिलाना, उसके पाँव संवहन करना (पगचंपी करना) पुत्र का धर्म नहीं है। उस क्रूर आदमी का पुत्र जब पिता का श्राद्ध करता है तब वह उसके मनुष्य जीवन के मरणोत्तर विभाग को, उसके समाजगत जीवन को पुष्ट करने की कोशिश करता है। पिता के व्याघ्र जीवन से उसे मतलब नहीं है। जब किसी सज्जन के जीवन की प्रेरणा समाज हजम कर लेता है, पूरी-पूरी हजम करके समाज ऊँचा चढ़ता है, तब उस सज्जन का मरणोत्तर जीवन सम्पूर्ण हुआ, कृतार्थ हुआ, अनन्त में विलीन हुआ। यही है सच्चा मोक्षानन्द या ब्रह्मानन्द!

एक जीवन की साधना पूरी होने पर जो कुछ भी अनुभव—कीमती अनुभव है, उसे लेकर हम नए-ताजे जीवन में प्रवेश करते हैं।

एक पुरुषार्थी भारतीय परदेश गया। वहाँ उसने तिजारत करके अपने व्यापार का बड़ा विस्तार किया; लेकिन बूढ़ा होने पर जब उसका वहाँ का आकर्षण कम हो गया और स्वदेश आने की इच्छा हुई, तब उसने वहाँ की सारी प्रवृत्ति समेट ली। देना-पावना चुका दिया और अपनी सारी कमाई इकट्ठी करके वह भारत लौटा। मृत्यु का भी वैसा ही है। जब प्रवृत्ति अनहद बढ़ती है और साधना के तौर पर काम नहीं आती, तब उसका सारा फल इकट्ठा करके नए जन्म की नई प्रवृत्ति, नयी साधना मनुष्य शुरू करता है। इसे एक तरह से मृत्यु कह सकते हैं। लेकिन इसके लिए दुख नहीं करते। एक स्थान छोड़ने का मामूली अल्पकालिक दुख जरूर रहता है, लेकिन वह किसी को रोकता नहीं।

जेल में रहते वहाँ के कई लोगों से परिचय होता है। कुछ स्नेह-संबंध भी बन जाता है। जेल से निकलते, विदाई के समय दुख भी होता है। लेकिन जेल से मुक्ति पाने का आनन्द उससे कम नहीं होता। इहलोक का जीवन पूरा करते मृत्यु का जो दुख होता है—मरने वालों को और औरों को—वह ऐसा ही होना चाहिए।

विश्वात्मैक्य का आनंद

उपनिषदों में शुरू से आखिर तक आत्मा और ब्रह्म की खोज है। किसी इतालवी विद्वान ने कहा है कि वेद में जो 'तनूमयि' जैसे शब्द आते हैं, उन्हीं पर से 'आत्मा' शब्द आया है। वह जो मुझमें है, वह है आत्मा। उपनिषदों में आत्मा की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से दी है।

आप्नीति—पाता है, आदत्ते—लेता है, अन्ति—खाता है सब-कुछ, वह है आत्मा। सब-कुछ पाता है, सब-कुछ ग्रहण करता है, सब-कुछ खा जाता है, वह है आत्मा। आत्मा की दूसरी व्याख्या 'अत्' धातु से की है (अत् सातत्य गमने)। अखंड चलते रहना, जीते रहना, सतत होना, सतत कार्य करना, यह है आत्मा का स्वरूप। "यदाप्नीति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् इह, यच्चास्य संततो भावः तस्मात् आत्मेति करित्यते", अगर जीवन में किसी चीज की खोज करनी है, किसी चीज को पाना है, किसी के द्वारा सब-कुछ प्राप्त करना है तो वह आत्मा है। वही है देखने योग्य, सुनने योग्य, मनन करने योग्य और निदिध्यास करने योग्य उस आत्मा के दर्शन से, श्रवण

से, मनन से और विज्ञान से सारे विश्व का रहस्य पाया जाता है। यह आत्मा हमारे अंदर है, हमारे जीवन का सार है। पंचभूतात्मक सृष्टि उसी के अंदर फँसी हुई है।

मनुष्य ने जब अपनी खोज की तब इन्द्रियों के साथ, 'करण' के साथ, सहयोग करने वाला एक अंदरूनी करण भी उसने पाया। उसने उसे 'अंतःकरण' कहा। इस अंतःकरण को समझने की कोशिश करते चित्त, चित्तवृत्ति, मन, बुद्धि, अहंकार आदि उत्तरोत्तर और सूक्ष्म तत्वों को उसने पहचान लिया और बाद में इन सबके परे जो है, अथवा अंदर जो है, उसने उसे 'अंतरतर' कहा। वही थी आत्मा।

जिस तरह मनुष्य ने अपने अंदर खोज आरंभ की, उसी तरह और शायद उसके पहले उसने बाह्य सृष्टि का रहस्य समझने की कोशिश की। सबसे पहले उसका ध्यान गया पृथ्वी तत्व पर। उसी पर हम खड़े रहते हैं, वही हमारा आधार है। पृथ्वी के बाद उसने देखा पानी। उसका कार्य देखते मनुष्य ने उसी को 'जीवन' कहा। पानी के बिना हम जी नहीं सकते हैं। पानी समस्त जीव-सृष्टि का आधार है। यह जो बाह्य सृष्टि में पानी दीख पड़ता है, इससे भी सूक्ष्म पानी उसने देख लिया, जिसमें पंचमहाभूतात्मक सारी सृष्टि पैदा हुई है।

पानी की उपासना के बाद उसने तेज को लिया। सूर्य, चन्द्र, विद्युत और अग्नि चारों में उसने तेज को देखा। सोने की चमक देखकर अथवा दूसरे किसी कारण, उसको उसने पृथ्वी में से उठाकर तेज तत्व में डाल दिया।

तेज की उपासना मनुष्य को बहुत ही आकर्षक लगी। लकड़ी के दो टुकड़े एक-दूसरे के साथ घिसने से धुआँ निकलता है, बाद में चिनगारियाँ निकलती हैं और अग्नि प्रकट होती है। यह देखकर उसने अरणि का मंथन चलाया और उससे पैदा हुई अग्नि को वह आहुति देने लगा। यह था सबसे पहले का धर्म। वैदिक धर्म की बुनियाद ही यज्ञ पर है। इसी यज्ञ द्वारा तप, त्याग, बलिदान और सेवा के सामाजिक सद्गुणों को उसने पाया। यज्ञ और तप, दान और सेवा, यही है मनुष्य का प्रधान धर्म। तप और यज्ञ के द्वारा तेज तत्व की उपासना करने के बाद वायु की बारी आई। वायु तो हमारा श्वास है, प्राण है। इस प्राण की उपासना करते-करते पूर्वज योग-साधना तक पहुँचे। प्राणोपासना हमारे वैदिक पूर्वजों की बहुत बड़ी

साधना थी। प्राणोपासक तेजस्वी था, वह कभी दीन होकर याचना नहीं करता था। प्राणोपासक कभी परास्त नहीं हुआ। आजकल हम शक्ति बढ़ाने के लिए पौष्टिक आहार लेते हैं, विटामिन खाते हैं। वर्जिश या व्यायाम करते हैं, स्नायु को मजबूत करते हैं, शुद्ध वायुसेवन द्वारा अपने शरीर को और खून को शुद्ध करते हैं। लेकिन मज्जा तन्तु की शक्ति बढ़ाने की साधना हम भूल गए हैं। मनुष्य का असली सामर्थ्य उसके स्नायुओं पर निर्भर है। वह शक्ति अगर क्षीण हुई तो उसे वापस कैसे लाना, यह लोग अब भूल गए हैं। हमारे पूर्वजों ने ब्रह्मचर्य और प्राणोपासना के द्वारा वह शक्ति बढ़ायी थी और उन्होंने अपनी आयु की मर्यादा में भी वृद्धि की थी। यह प्राणोपासना हमें फिर से ढूँढकर निकालनी होगी और उसका अनुशीलन बड़े पैमाने पर करना होगा। संध्यावंदन में जो सूर्योपासना आती है, वह भी प्राणोपासना ही है।

इसके बाद मनुष्य ने देखा कि सारे विश्व को घेरे हुए है आकाश। वह हमारे हृदय में भी है और सारे विश्व में भी फैला हुआ है। आकाश को देखकर आर्य मानस स्तंभित हो गया और उसने आकाश की उपासना जोरों से की। यह पंचभूतात्मक विश्व आकाश में ओत-प्रोत है। इसकी उपासना करने से स्थैर्य और आनदैक्य मिलेगा। यह देखकर उसने आकाश को ही अनंत का नाम दे दिया।

जिस तरह अंदरूनी उपासना में अहंकार के बाद आत्मा की प्राप्ति हुई, उसी तरह बाह्य उपासना में आकाश के बाद अक्षर-ब्रह्म की प्राप्ति हुई। जो बड़ा है, बृहत् है, बृहत्तम है, वही है ब्रह्म। ब्रह्म से बढ़कर कुछ है ही नहीं।

जब मनुष्य की साधना अत्यंत उत्कट हुई तब उसने पाया कि अंतरतर और अंतरतम जो आत्मा उसने पाया और बृहत्तम ब्रह्म को पाया, ये दोनों एक हैं। तब उसने चिल्लाकर कहा, "अयम् आत्मा ब्रह्म।" यह हमारे उपनिषदों का प्रथम महावाक्य है। मनुष्य ने और भी एक चीज पायी। आत्मा को सचमुच पाते ही उसे परम आनंद प्राप्त होता है। इसी तरह परब्रह्म को पाते ही वैसा ही एक परम आनंद उसे मिलता है और वह बिलकुल निर्भय होता है। ब्रह्म का आनंद जिसने जान लिया, वह कभी भी और किसी से डरता नहीं, "आनंद ब्राह्मणो विद्वान न विभेति कदाचन्।"

और जब उसने आत्मानंद और ब्रह्मानंद को पाया और दोनों की एकता अनुभव हुई तब उसे इस अद्‌भुत अद्वैत का ज्ञानानंद प्राप्त हुआ। अगर कोई परम आनंद है तो अद्वैतानन्द ही है। इस अद्वैत ही को कहते हैं विश्वात्मैक्य। सारे विश्व के साथ अपना अभेद, अपना ऐक्य सब तरह से पाना, यही है सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये असली पुरुषार्थ नहीं हैं। पुरुषार्थ के उत्तम साधन होने के कारण इन्हें भी पुरुषार्थ कहते हैं। असली एकमात्र पुरुषार्थ तो विश्वात्मैक्य का आनंद पाना ही है।

यह जिसने पाया, उसका हृदय, उसका आशय बड़ा हो गया। वह हुआ ब्राह्मण। असली ब्राह्मण तो वही है, बाकी के सारे नामधारी ब्राह्मण हैं।

यह सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र पुरुषार्थ जिसने नहीं पाया, उसकी दीनता, उसका दारिद्र्य कभी दूर नहीं होता। वह हमारी दया का पात्र है, कृपा का पात्र है। कृपा का पात्र होने से उसे कृपण कहा है। कृपण देता नहीं याचना करता है। परिग्रह की खोज में रहता है इसीलिए वह कृपण है। दान की खोज में दौड़ने वाले और दान का माहात्म्य गाने वाले ब्राह्मण उपनिषदों की भाषा में सचमुच कृपण हैं। मनुष्य जाति की इन दो जातियों में भी उपनिषदों ने भेद बताया है—कृपण और ब्राह्मण। हर एक कृपण को ब्राह्मण बनाना, यही है सर्वोत्तम समाज-सेवा और विश्वपूजा।

('उपनिषदों का बोध' से)

सब धर्मों का एक परिवार

जहाँ देखें समाज की गिरावट की बातें ही सुननी पड़ती हैं। जो लोग गिरावट से दुखी हैं उनकी संख्या कम नहीं है। करोड़ से भी अधिक हो तो आश्चर्य नहीं। मन में सवाल उठता है कि "क्या गिरावट इतनी जबरदस्त है कि करोड़ से अधिक सज्जन भी इसका कोई इलाज नहीं कर सकते?"

अंदर की आवाज कहती है कि करोड़ नहीं किंतु पचास लाख लोग भी निश्चय कर दें कि जहाँ तक हमसे हो सके समाज को गिरने नहीं देंगे। गिरने वालों को और गिरने देने वालों को उनकी निष्प्राण अकर्मण्यता में हम साथ नहीं देंगे। कम से कम अपनी ओर से सामाजिक शिथिलता का

(नैतिक ढिलाई का) भरसक विरोध ही करेंगे, तो देखते-देखते समाज की हालत में जरूर कुछ सुधार हो सकेगा।

इतना भी याद रखना चाहिए कि जब हम समाज की गिरावट की बात करते हैं और वह भी ऐसी आवाज में कि 'इसका कोई इलाज नहीं' तब हम गिरावट को मजबूत करते हैं। और समाज की लाचारी को अपनी सम्मति भी देते हैं। घर में कोई प्रियजन बीमार पड़े तो हम बीमारी का वर्णन करके अगर कुछ इलाज न करें और रोज कहते चलें कि 'जिस चीज का इलाज नहीं उसे बरदाश्त किए बिना चारा ही नहीं' तो आसपास के लोग हमें डाँटेंगे और कहेंगे कि 'आप रोना-सा चेहरा लेकर बैठे क्यों हैं? जो भी हो सके इलाज तो शुरू कर दीजिए। फिर अगर वक्त रहा तो बीमार की बीमारी का विस्तार से वर्णन करें।' पहले इलाज, बाद में चर्चा।

हजारों वर्ष का पुराना समाज और वह भी करोड़ों लोगों का बना हुआ। उसके अंदर के छोटे-बड़े दोष असंख्य होंगे। दोष, खराबियाँ और गलतियाँ चाहे जितनी हों, चाहे जितनी पुरानी भी हों उन्हें दूर करने के लिए हमारे पास मनुष्य-बल भी कम नहीं है। हर एक आदमी किसी एक सामाजिक दोष को सुधारने का जीजान से प्रयत्न करेगा तो उसे संतोष मिलेगा कि हमने अपने हिस्से का प्रयत्न किया। मेरे जैसे असंख्य लोग अपने-अपने स्थान पर डटे रहकर अपने ढंग से सुधार करने की कोशिश करते ही हैं। उनके परिश्रम को सफल बनाने के लिए मुझे अपनी ओर से अपना काम जोरों से करना होगा। अनेक व्यक्तियों के प्रयत्न से जो काम होता है उसकी जोड़ को ही 'ईश्वर प्रयत्न' कहा जाता है। इस जोड़ में अपना हिस्सा अदा करना ईश्वर का ही काम है।

(2)

अपनी आदत के अनुसार मैं विशाल मनुष्य जीवन के सब पहलुओं पर चिंतन करता आया हूँ। और यथासम्भव लिखता भी आया हूँ। लेकिन अब उनमें से एक विषय के ही सब पहलुओं का विशेष चिंतन, विवरण और चर्चा करने का सोचा है।

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा ने सोचा कि केवल भाषा की चर्चा अथवा नवशैली की निर्मिति में लोगों का सहयोग कम मिलता है। इसलिए इस

विषय की गहराई में जाकर सर्वधर्म समभाव अथवा उसी के व्यापक रूप में विश्व-समन्वय के ऊपर सर्वशक्ति केन्द्रित की जाय। वैसा मैं थोड़ा-बहुत करता आया भी हूँ। लेकिन आइंदा 'मंगल प्रभात' मानो विश्व-समन्वय का ही मुखपत्र हो, ऐसे भाव से इस समन्वय विषय के भिन्न-भिन्न विषय पर ही ज्यादातर लिखने की कोशिश करूँगा। सच में तो ऐसा समन्वय केवल चर्चा का विषय नहीं है। जीवनव्यापी चीज को ही समन्वय समझना चाहिए। इसी का प्रयत्न हम आइंदा विशेष रूप से करेंगे।

सब धर्मों का एकीकरण करके, सर्वत्र चल सके ऐसा एक सार्वभौम 'समन्वित धर्म' चलाने का हमारा प्रयत्न नहीं है। हम जानते हैं कि जो बड़े-बड़े धर्म दुनिया में विशाल विस्तार में चल रहे हैं उनकी प्रतिष्ठा कभी बढ़ेगी कभी घटेगी, लेकिन ये सारे धर्म दीर्घकाल तक चलने वाले हैं ही। हम तो इन धर्मों के बीच जो प्रकट या छिपा वैमनस्य है, परस्पर विरोध है, अलगाव है उसे दूर करके सब धर्म-समाजों को सामाजिक व्यवहार में एक-दूसरे के नजदीक लाना चाहते हैं, जिससे इन धर्म-समाजों में भाईचारा बढ़े, सहयोग बढ़े-और आखिरकार सब प्रधान धर्मों में पारिवारिक संबंध स्थापित हो जाय।

हजारों वर्ष के इतिहास से हम देख सके हैं कि चमड़ी के रंग के भेद के कारण मानव जाति अनेक महावंशों में बँट गई है। यूरोप, अमरीका के गोरे लोग, अफ्रीका के काले लोग, अमरीका के मुट्ठी-भर लाल आदिवासी जिन्हें (रेड इंडियन कहते हैं), चीन, जापान के पीले लोग, अपने को अलग-अलग महाजाति मानते हैं। यह वंशभेद बड़ा तीव्र है। इनमें आपस में शादियाँ नहीं होतीं। लोग ऐसी शादियाँ पसंद भी नहीं करते। सारी मानव जाति मानो वंश-भेद को कायम रखने पर तुली हुई है। इनमें यूरोप, अमरीका के गोरे लोग सबसे अधिक अभिमानी, मगरूर और तुमाखी हैं। ये गोरे लोग अफ्रीका के काले लोगों को दबाना चाहते थे। दीर्घकाल तक अफ्रीकन लोगों को पकड़कर गुलाम बनाकर उन्हें जानवरों की तरह रखने का और उनसे मारपीट कर काम लेने का प्रयोग भी इन गोरे लोगों ने किया। लेकिन यह प्रयोग आखिरकार महँगा साबित हुआ। गोरे लोगों में ऐसे भी सज्जन पैदा हुए जिन्होंने गुलामी प्रथा का घोर विरोध किया. आखिरकार अफ्रीका के काले लोग गुलामी की हालत से मुक्त हो गए। अब अफ्रीका के काले

लोग धीरे-धीरे सिर ऊँचा कर रहे हैं।

तो भी गोरे लोगों का वर्णाभिमान दूर नहीं हुआ है। गोरे लोग चीन, जापान आदि एशियाई देशों के पीले लोगों की बढ़ती हुई प्रचंड संख्या देखकर

विनम्र काका साहब

डर जाते हैं। उधर गोरे लोगों का आतंक दुनिया के सब खंडों पर फैला है। इसके कारण गैरगोरे लोग त्रस्त हैं। तो भी गोरे लोगों ने दुनिया पर हो-हल्ला मचाया है कि चीन, जापान आदि देशों में पीले लोगों से दुनिया को खतरा है। मौके-बेमौके ये गोरे लोग पूरब के पीले संकट की चिल्लाहट करते हैं।

ईश्वर की कृपा है कि भारत में काले, गोरे, पीले, गेहूँवर्णी सब तरह

के लोग एकत्र रह रहे हैं। हमारे यहाँ वर्णविद्वेष चल ही नहीं सकता। क्योंकि एक ही जाति में और एक ही धर्म-समाज में गोरे, काले, पीले, गेहूँवर्णी लोग पाए जाते हैं।

अब दुनिया ने वंश-भेद और वंश-विद्वेष की जाहिरा तौर पर चर्चा करना छोड़ दिया है। वर्ण-विद्वेष दूर नहीं हुआ है; दब गया है। लोग दूसरे-दूसरे कारण आगे करके वर्ण-विद्वेष छिपाने की कोशिश भी करते हैं।

ऐसी स्थिति में दुनिया के सयाने अनुभवी इतिहासवेत्ता मानव-प्रेमी लोगों ने सूत्र चलाया है, "चमड़ी का रंग कैसा भी हो, वंश-भेद भले ही पुराना हो लेकिन हमें भूलना नहीं चाहिए कि सब महावंश, महाजातियाँ मिलकर एक विशाल मानव कुटुम्ब बनता है।" दुनिया में कहीं भी जाइए, इस मानव-प्रेमी सूत्र का विरोध कोई नहीं करता। 'सब मानव ।मल करके एक विराट मानव समाज है। इसकी एकता मजबूत करनी चाहिए।' यह आदर्श तत्वतः सबको मान्य हुआ है।

इसी मिसाल से प्रेरणा पाकर हम भी घोषणा करना चाहते हैं उसी प्रकार सभी धर्म मिलकर एक आध्यात्मिक कुटुम्ब की रचना करते हैं।

अगर महावंशों का आपस-आपस में लड़ना अयोग्य है, असमीचीन है, हमारी मानवता को शोभा नहीं देता तो उसी न्याय से धर्मों के बारे में भी हम कह सकते हैं कि सब धर्म मिलकर एक आध्यात्मिक परिवार है, एक सांस्कृतिक महाकुटुंब बनता है। धर्मों का आपस में लड़ना, एक-दूसरे का विरोध करना, एक-दूसरे का नाश करने के लिए षड्यंत्र रचना यह सब आत्मनाशक है, और नामुमकिन भी है। मानव की संस्कृति की हस्ती के लिए घातक है।

हर एक धर्म में इतनी असंख्य अच्छी-अच्छी बातें हैं कि हमारे मन में हर एक धर्म के प्रति आदर ही होना चाहिए। हम आहिस्ते-आहिस्ते सब धर्मों के लोगों को एक-दूसरे के नजदीक लाएँगे और बता देंगे कि धर्मभेद होने के कारण समाजभेद होना जरूरी नहीं है।

यह काम आज इतना जरूरी हो गया है कि अनेक लोग अपने-अपने ढंग से इस दिशा में कमोबेश प्रयत्न करने लगे हैं। उनका हम अभिनंदन करें। ऐसे लोगों को ढूँढ-ढूँढकर उनकी प्रवृत्ति में उनसे सहयोग करें। साल-भर में किसी एक दिन यह काम किया और संतोष माना, ऐसा नहीं होना चाहिए।

केवल शोभा का काम तुरंत पहचाना जाता है कि 'यह ऊपर का दिखावा ही है।' वह अभिनंदनीय भले ही हो उससे हमें पूरा संतोष नहीं होना चाहिए। हम लोगों ने एक प्रवृत्ति चलाकर देखी। एक-एक धर्म के एक-एक प्रचारक को बुलाकर उनसे अपने-अपने धर्म के बारे में व्याख्यान करवाए। प्रचारक खुशी से आए। बोलने का मौका मिला और उदारता की प्रतिष्ठा मिली तो ऐसा मौका कौन छोड़ देगा? (इनमें भी चंद अंधे लोग अपना बड़प्पन आगे करने का और दूसरों को छोटा दिखाने का थोड़ा-थोड़ा प्रयत्न किए बिना नहीं रहते। इससे अगर चर्चा छिड़ी तो वाद-विवाद करने का उन्हें मौका मिलता है, और लोगों ने भलमंसी बरतकर चर्चा नहीं की तो अंधे प्रचारक मानते हैं कि हमारी जीत हो गयी।) जहाँ लोगों को अलग-अलग धर्मों के बारे में सचमुच जानकारी नहीं है और वैसी प्राप्त करने की लोगों में इच्छा है तो उस-उस धर्म के ज्ञाता लोगों को बुलाकर थोड़े में उनसे जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए सही। लेकिन उत्तम रिवाज यह होगा कि अगर मैं हिंदू हूँ तो मैं पारसी, ईसाई अथवा इस्लामी धर्मों में मैंने क्या-क्या अच्छा पाया उसका आदरपूर्वक जिक्र करूँ। औरं इस तरह उस-उस समाज को अपनाने की कोशिश करूँ।

और एक सूचना है, सामान्य रिवाज है कि लोग त्योहार के दिन अपने रिश्तेदारों को और नजदीक के स्नेहियों को भोजन के लिए बुलाते हैं। रिवाज स्वाभाविक है। अच्छा है और सार्वत्रिक है। इसमें हम एक इष्ट सुधार कर सकते हैं। त्योहार के दिन हम एक-दो या अधिक भिन्नधर्मी लोगों को अपना त्योहार मनाने के लिए और भोजन के लिए बुलाने का आग्रह रखें। उनके घर की और समाज की बातें उनसे पूछें। और इस तरह धीरे-धीरे दूर के लोगों को नजदीक लाने की कोशिशें करें। हम देखेंगे धर्मभेद तो ऊपर-ऊपर के हैं, अंदरूनी मानवी एकता तो सर्वत्र है। और दूर के लोगों के रस्म-रिवाजों में जो भिन्नता होती है, उसमें भी कई बातें समझने लायक होती हैं और उनमें भी चंद बातें लेने लायक भी लगती हैं।

अगर हमने तय किया कि दूर के लोगों को नजदीक लाना ही है। प्रेम और आत्मीयता का संबंध बढ़ाना है तो कई नयी-नयी चीजें हमें आप-ही-आप सूझेंगी। परिस्थिति ही अनेक बातें सुझाएगी, और हमारा जीवन प्रसन्न और परिपुष्ट होगा।

वसंत पंचमी

वसंत पंचमी क्या है? ऋतुराज का स्वागत।

माघ शुक्ल पंचमी को हम वसंत पंचमी कहते हैं। परंतु वसंत पंचमी हर शख्स के लिए उसी दिन नहीं होती। ठण्डे खून वाले आदमी के लिए वसंत पंचमी इतनी जल्दी नहीं आती।

वसंत पंचमी प्रकृति का यौवन है। वह मनुष्य वसंत पंचमी के आगमन का अनुभव बिना ही कहे करता है, जिसका रहन-सहन प्रकृति के प्रतिकूल न हो—जो कुदरत के रंग में रँग गया हो। नदी के क्षीण प्रवाह में एकाएक आयी हुई बाढ़ को हम जिस प्रकार अपनी आँखों से देखते हैं, उसी प्रकार हम वसंत को भी आता हुआ देख सकते हैं। अलबत्ता वह एक ही समय सबके हृदय में प्रवेश नहीं करता।

वसंत जब आता है तब यौवन के उन्माद के साथ आता है। यौवन में सुंदरता होती है, पर यह नहीं कह सकते कि उसमें क्षेम भी हमेशा होता है। यौवन की तरह वसंत में भी शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना कठिन हो जाता है। तारुण्य की तरह वसंत भी लहरी और चंचल होता है। कभी जाड़ा मालूम होता है कभी गरमी, कभी जी ऊबने लगता है, कभी उल्लास मालूम होने लगता है। जाड़े में खोयी हुई शक्ति फिर प्राप्त की जाती है, परंतु जाड़े में प्राप्त की हुई शक्ति को वसंत में संचित कर रखना आसान नहीं है। वसंत में यदि संयम के साथ रहा जा सके, तो सारे वर्षभर के लिए आरोग्य की रक्षा हो जाती है। वसंत में प्राणिमात्र पर एक चित्ताकर्षक कांति छा जाती है, पर वह वैसी ही खतरनाक भी होती है।

वसंत के उल्लास में संयम की बात, संयम की भाषा शोभा नहीं देती, सहन नहीं होती, परंतु उसी समय उसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। क्षीण मनुष्य यदि पथ्य के साथ रहे तो इसमें कौन-से आश्चर्य की बात है? इससे क्या लाभ है? नाममात्र के जीवन में क्या स्वास्थ्य है? जीवन का आनन्द तो है सुरक्षित वसंत।

वसंत उड़ाऊ होता है। इस बात में भी प्रकृति का तारुण्य ही प्रकट होता है। फूल और फल कितने ही लगते हैं और कितने ही मुरझा जाते हैं, मानो प्रकृति जाड़े की कंजूसी का बदला देती है। वसंत की समृद्धि चिरस्थायी समृद्धि नहीं। जो कुछ दिखाई पड़ता है वह स्थिर नहीं रहता।

राष्ट्र का वसंत भी बहुत बार उड़ाऊ होता है। कितने ही फूल और फल बड़ी-बड़ी आशाएँ दिखाते हैं, परंतु परिपक्व होने के पहले ही मुरझाकर गिर पड़ते हैं। सच्चे वही हैं, जो शरद ऋतु तक कायम रहते हैं। राष्ट्र के वसंत में संयम की वाणी अप्रिय मालूम होती है, परंतु वही पथ्यकर है।

उत्सव में विनय, समृद्धि में स्थिरता, यौवन में संयम—यही सफल जीवन का रहस्य है। फूलों की सार्थकता इसी बात में है कि उनका दर्प फल के रस के रूप में परिणत हो।

वसंत पंचमी के उत्सव की सृष्टि शास्त्रकारों के द्वारा नहीं हुई, और न धर्माचार्यों ने उसे मान्य ही किया है। उसे तो कवियों और गायकों ने, तरुणों और रसिकों ने जन्म दिया है। कोयल ने उसे निमंत्रण दिया है और फूलों ने उसका स्वागत किया है। वसंत क्या है? पक्षियों का गान, आम्र-मंजरियों की सुगन्ध, शुभ्र अभ्रों की विविधता और पवन की चंचलता। पवन तो हमेशा ही चंचल होता है, परंतु वसंत में वह विशेष भाव से क्रीड़ा करता है। जहाँ जाता है, वहाँ पूरे ज़ोश-खरोश के साथ जाता है। जहाँ बहता है, वहाँ पूरे वेग से बहता है। जब गाता है तब पूरी शक्ति के साथ गाता है और थोड़ी ही देर में घूम भी जाता है।

वसंत से संगीत का नवीन सूत्र शुरू होता है। गायक आठों पहर वसंत के आलाप ले सकते हैं। न तो देखते हैं पूर्वरात्र, और न देखते हैं उत्तररात्र।

संगीत का प्रवाह तभी चलता है, जब संयम, औचित्य और रस तीनों का संयोग होता है। जीवन में भी अकेला संयम, श्मशानवत् हो जाता है, अकेला औचित्य दम्भ-रूप हो जाता है, अकेला रस क्षणजीवी विलासिता में लीन हो जाता है। इन तीनों का संयोग ही जीवन है। वसंत में प्रकृति हमें रस की धारा प्रदान करती है। संयम और औचित्य-रूपी हमारी अपनी सम्पत्ति हमें उसमें जोड़नी चाहिए।

(जीवन साहित्य, पहला भाग)

गंगा मैया

नदी को यदि कोई उपमा शोभा देती है, तो वह माता की ही। नदी के किनारे पर रहने से अकाल का डर तो रहता ही नहीं। मेघ राजा जब धोखा देते हैं तब नदी माता ही हमारी फसल पकाती है। नदी का किनारा

यानी शुद्ध और शीतल हवा। नदी के किनारे-किनारे घूमने जाएँ तो प्रकृति के मातृवात्सल्य के अखण्ड प्रवाह का दर्शन होता है। नदी बड़ी हो और उसका प्रवाह धीर-गम्भीर हो, तब तो उसके किनारे पर रहने वालों की शानशौकत उस नदी पर ही निर्भर करती है। सचमुच नदी जनसमाज की माता है। नदी किनारे बसे हुए शहर की गली-गली में घूमते समय एकाध कोने से नदी का दर्शन हो जाए, तो हमें कितना आनन्द होता है। कहाँ शहर का वह गंदा वायुमंडल और कहाँ नदी का यह प्रसन्न दर्शन। दोनों के बीच का अंतर फौरन मालूम हो जाता है। नदी ईश्वर नहीं है, बल्कि ईश्वर का स्मरण कराने वाली देवता है। यदि गुरु को वंदन करना आवश्यक है तो नदी को भी वंदन करना उचित है।

यह तो हुई सामान्य नदी की बात। किंतु गंगा मैया तो आर्य जाति की माता है। आर्यों के बड़े-बड़े साम्राज्य इसी नदी के तट पर स्थापित हुए हैं। कुरु-पांचाल देश का अंग-बंगादि देशों के साथ गंगा ने ही संयोग किया है। आज भी हिन्दुस्तान की आबादी गंगा के तट पर सबसे अधिक है।

जब हम गंगा का दर्शन करते हैं तब हमारे ध्यान में फसल से लहलहाते सिर्फ खेत ही नहीं आते, न सिर्फ माल से लदे जहाज ही आते हैं, किंतु वाल्मीकि का काव्य, बुद्ध-महावीर के विहार, अशोक, समुद्रगुप्त या हर्ष जैसे सम्राटों के पराक्रम और तुलसीदास या कबीर जैसे संतजनों के भजन—इन सबका एक साथ स्मरण हो आता है। गंगा का दर्शन तो शैत्य-पावनत्व का हार्दिक तथा प्रत्यक्ष दर्शन है।

किंतु गंगा के दर्शन का एक ही प्रकार नहीं है। गंगोत्री के पास के हिमाच्छादित प्रदेशों में इसका खिलवाड़ी कन्यारूप, उत्तरकाशी की ओर चीड़-देवदार के काव्यमय प्रदेश में मुग्धारूप, देवप्रयाग के पहाड़ी और सँकरे प्रदेश में चमकीली अलकनंदा के साथ उसकी अठखेलियाँ, लक्ष्मण-झूले की विकराल दष्ट्रा में से छूटने के बाद हरिद्वार के पास उसका अनेक धाराओं में स्वच्छन्द विहार, कानपुर से सटकर जाता हुआ उसका इतिहास-प्रसिद्ध प्रवाह, प्रयाग के विशाल पट पर हुआ उसका कालिन्दी के साथ का त्रिवेणी संगम—हरेक की शोभा कुछ निराली ही है। एक दृश्य देखने पर दूसरे की कल्पना नहीं हो सकती। हरेक का सौन्दर्य अलग, हरेक का भाव अलग, हरेक का वातावरण अलग, हरेक का माहात्म्य अलग।

प्रयास से गंगा अलग ही स्वरूप धारण कर लेती है। गंगोत्री से लेकर प्रयाग तक की गंगा वर्द्धमान होते हुए भी एकरूप मानी जा सकती है। किंतु प्रयाग के पास उससे यमुना आकर मिलती है। यमुना का तो पहले से ही दोहरा पाट है। वह खेलती है, कूदती है, किंतु क्रीड़ासक्त नहीं मालूम होती। गंगा शकुन्तला जैसी तपस्वी कन्या दीखती है। काली यमुना द्रौपदी जैसी मानिनी राजकन्या मालूम होती है। शर्मिष्ठा और देवयानी की कथा जब हम सुनते हैं, तब भी प्रयाग के पास गंगा और यमुना के बड़ी कठिनाई के साथ मिलते हुए शुक्ल-कृष्ण प्रवाहों का स्मरण हो आता है। हिन्दुस्तान में अनगिनत नदियाँ हैं, इसलिए संगमों का भी कोई पार नहीं है। इन सभी संगमों में हमारे पुरखों ने गंगा-यमुना का यह संगम सबसे अधिक पसंद किया है, और इसीलिए उसका 'प्रयागराज' जैसा गौरवपूर्ण नाम रखा है। हिन्दुस्तान में मुसलमानों के आने के बाद जिस प्रकार हिन्दुस्तान के इतिहास का रूप बदला, उसी प्रकार दिल्ली-आगरा और मथुरा-वृन्दावन के समीप से आते हुए यमुना के प्रवाह के कारण गंगा का स्वरूप भी प्रयाग के बाद बिलकुल बदल गया है।

प्रयाग के बाद गंगा कुलवधू की तरह गंभीर और सौभाग्यवती दीखती है। इसके बाद उसमें बड़ी-बड़ी नदियाँ मिलती जाती हैं। यमुना का जल मथुरा-वृन्दावन से श्रीकृष्ण के संस्मरण अर्पण करता है, जबकि अयोध्या होकर आने वाली सरयू आदर्श राजा रामचन्द्र के प्रतापी किंतु करुण जीवन की स्मृतियाँ लाती है। दक्षिण की ओर से आने वाली चंबल नदी रंतिदेव के यज्ञयाग की बातें करती है, जबकि महान कोलाहल करता हुआ शोणभद्र गजग्राह के दारुण द्वंद्व-युद्ध की झाँकी कराता है। इस प्रकार हृष्ट-पुष्ट बनी हुई गंगा पाटलिपुत्र के पास मगध साम्राज्य जैसी विस्तीर्ण हो जाती है। फिर भी गंडकी अपना अमूल्य कारभार लाते हुए हिचकिचाई नहीं। जनक और अशोक की, बुद्ध और महावीर की प्राचीन भूमि से निकलकर आगे बढ़ते समय गंगा मानो सोच में पड़ जाती है कि अब कहाँ जाना चाहिए। जब इतनी प्रचंड वारिराशि अपने अमोघ वेग से पूर्व की ओर बह रही हो, तब उसे दक्षिण की ओर मोड़ना क्या कोई आसान बात है? फिर भी वह उस ओर मुड़ गई है सही। दो सम्राट या दो जगद्गुरु जैसे एकाएक एक-दूसरे से नहीं मिलते, वैसा ही गंगा और ब्रह्मपुत्र का हाल है। ब्रह्मपुत्र हिमालय

के उस पार का सारा पानी लेकर आसाम से होती हुई पश्चिम की ओर आती है और गंगा इस ओर से पूर्व की ओर बढ़ती है। उनकी आमने-सामने भेंट कैसे हो? कौन किसके सामने पहले झुके? कौन किसे पहले रास्ता दे? अंत में दोनों ने तय किया कि दोनों को दाक्षिण्य धारण कर सरित्पति के दर्शन के लिए जाना चाहिए और भक्ति-नम्र होकर, जाते-जाते जहाँ संभव हो, रास्ते में एक-दूसरे से मिल लेना चाहिए।

इस प्रकार गोआलंदी के पास जब गंगा और ब्रह्मपुत्र का विशाल जल आकर मिलता है, तब मन में संदेह पैदा होता है कि सागर और क्या होता होगा? विजय प्राप्त करने के बाद कसी हुई खड़ी सेना भी जिस प्रकार अव्यवस्थित हो जाती है और विजयी वीर मन में आए वैसे जहाँ-तहाँ घूमते हैं, उसी प्रकार का हाल इसके बाद इन दो महान नदियों का होता है। अनेक मुखों द्वारा वे सागर में जाकर मिलती हैं। हरेक प्रवाह का नाम अलग-अलग है और कुछ प्रवाहों के तो एक से भी अधिक नाम हैं। गंगा और ब्रह्मपुत्र एक होकर पद्मा का नाम धारण करती हैं। यही आगे जाकर मेघना के नाम से पुकारी जाती है।

यह अनेकमुखी गंगा कहाँ जाती है? सुन्दरवन में बेंत के झुंड उगाने? या सगरपुत्रों की वासना को तृप्त कर उनका उद्धार करने? आज जाकर आप देखेंगे तो यहाँ पुराने काव्य का कुछ भी शेष नहीं होगा। जहाँ देखो वहाँ सन की बोरियाँ बनाने वाली मिलें और ऐसे ही दूसरे बेहूदे विश्री कल-कारखाने दीख पड़ेंगे। जहाँ से हिन्दुस्तानी कारीगरी की असंख्य वस्तुएँ हिन्दुस्तानी जहाजों से लंका या जावा द्वीप तक जाती थीं, उसी रास्ते से अब विलायती और जापानी आगबोटें (स्टीमरें) विदेशी कारखानों में बना हुआ भद्दा माल हिन्दुस्तान के बाजारों में भर डालने के लिए लाती हुई दिखायी देती हैं। गंगा मैया पहले ही की तरह हमें अनेक प्रकार की समृद्धि प्रदान करती जाती है। किंतु हमारे निर्बल हाथ उसको उठा नहीं सकते।

गंगा मैया! यह दृश्य देखना तेरी किस्मत में कब तक बदा है?

देवों का काव्य

आजकल के दिन तारादर्शन के लिए और नक्षत्र-विद्या सीखने के लिए बहुत ही अच्छे हैं। शाम को पश्चिम की ओर चन्द्रकला बढ़ती जाती है

और चन्द्र रोज एक-एक नक्षत्र में पदार्पण करता जाता है। पंचांग (पत्र) में देखने से पता चलता है कि चन्द्र किस नक्षत्र में और किस राशि में कहाँ तक है। पंचांग में तो राशि-चक्र गणितशास्त्र की बारह राशियों में बाँटा जाता है। वही चक्र सत्ताईस नक्षत्रों में भी समसमान विभागों में विभक्त किया जाता है।

अब आकाश में जो नक्षत्र दीख पड़ते हैं वे तो गणित के हिसाब से एक-से फासले पर नहीं होते। न वे एक ही रास्ते पर एक क़तार में आते हैं। कोई नक्षत्र उत्तर की ओर झुकता है तो कोई दक्षिण की ओर। इस तरह नक्षत्र-मार्ग चालीस अंश चौड़ा माना जाता है।

आकाश का गणित विभाग और होता है तथा नक्षत्र विभाग और होता है। तो भी निरयन (पुराना ग्रहलाभवी) पंचांग का गणित विभाग तारा विभागों से बहुत कुछ मिलता है। इसलिए चन्द्र और बुध, शुक्र आदि ग्रहों की स्थिति देखने के लिए पुराना पंचांग ही देखना अनुकूल है।

अब जब हम भिन्न-भिन्न नक्षत्रों के उदयास्तों की बात करेंगे तब क्षितिज पर उनके उदयास्त निश्चित रूप से कहाँ दिखाई देंगे, यह कह देना बहुत लाभदायक होगा। किंतु नक्षत्रों के उदयास्तों के स्थान हर एक अंश के लिए कुछ भिन्न ही होते हैं। हिन्दुस्तान का विस्तार उत्तर गोलार्द्ध में छह अक्षांश से छत्तीस तक है। इस हिसाब से वर्धा इक्कीस अंश पर होने से हिन्दुस्तान के बिलकुल मध्य पर है। वर्धा का हिसाब अगर हम 'सर्वोदय' में दे दें तो हिन्दुस्तान में कहीं पर भी उसमें थोड़ा फर्क करने से हिसाब मिल जाएगा।

पृथ्वी पर जैसे अक्षांश-रेखांश होते हैं, वैसे आकाश में भी होते हैं। किंतु हम उनसे काम नहीं लेंगे। व्यवहार में हर एक नक्षत्र या तारे की ऊँचाई जानना ही अधिक उपयोगी होता है। एक काफी बड़ा कार्ड-बोर्ड या लकड़ी का तख्ता लेकर उस पर वर्तुल पर घड़ी के जैसे एक से लेकर बारह तक अंक लिखे जाएँ। मिनट-मिनट की लकीर भी खींचकर वर्तुल का जहाँ केन्द्र हो (जहाँ घड़ी के काँटे लगाए जाते हैं) वहाँ एक स्क्रू उसका सिर नीचे की ओर करके खड़ा किया जाए। मैदान में जाकर किसी मेज पर इस तख्ती को इस तरह से रख दीजिए कि बारह का अंक उत्तर की तरफ ध्रुव के नीचे आ जाए, छह के अंक से केन्द्र के स्क्रू के सिर पर देखा

जाए। और उसी के सामने अगर ध्रुव का तारा आ जाए तो मान लेना चाहिए कि हमारा वर्तुल ठीक-ठीक बैठ गया।

फिर जहाँ नौ का अंक है वहाँ से केन्द्र के (बीच के) कीले की तरफ देखा जाए तो तीन के अंक के हिसाब पर पूरब ठीक-ठीक आ जाएगी। इससे उलटा अगर तीन के अंक से केन्द्र को छेदकर नौ की तरफ देखें तो पश्चिम का बिन्दु मिल जाएगा।

इसी तरह अगर हम बारह के अंक के पास खड़े होकर केन्द्र को पार करके छह के हिसाब से क्षितिज को देखें तो हमें दक्षिण बिन्दु मिल जाएगा।

इस हिसाब से अगर हम मैदान वाली मेज पर एक बड़ा 'डी' का चेहरा बनाकर रख दें और उसके बीच कील का स्तम्भ खड़ा कर दें तो हम क्षितिज के किसी स्थान को निश्चित रूप से बता सकेंगे। अगर हमने कहा कि अभिजित पूरब की ओर डेढ़ बजे के स्थान पर उगता है तो इसका मतलब यह नहीं होगा कि रात को डेढ़ बजे यह उगेगा। किन्तु इसका अर्थ यह होगा कि ठीक-ठीक उत्तर-पूर्व की तरफ वहाँ उसका उदय हम देख सकेंगे। हमारी मेज पर रखे हुए घड़ी के चेहरे पर साढ़े सात के स्थान से अगर हम बीच के स्तम्भ के सामने देखें तो डेढ़ बजे के हिसाब पर कहीं बायीं-दाहिनी ओर अभिजित का उदय हम देखेंगे। कितने बजे उदय होगा वह तो स्वतंत्रतया कहना होगा और उसमें भी जिस तारीख के लिए लिखा हो, उसमें हर रोज करीब-करीब चार मिनट का फर्क पड़ता ही जाएगा।

जो नक्षत्र उत्तर ध्रुव के बिलकुल नजदीक होते हैं वे तो तीन सौ साठ दिन क्षितिज के ऊपर ही रहते हैं। उनके लिए उदयास्त है ही नहीं।

प्राणदायी हवा

एक गाँव था। वहाँ के लोग बड़े ही भोले-भाले व भले थे। बुजुर्गों के वचन का आदर करते और वे कहते वैसा करते थे।

उस गाँव में पुराने जमाने का एक बूढ़ा रहता था। हमेशा कहा करता, "हेमंत ऋतु की हवा बड़ी अच्छी रहती है। वह जितनी शरीर में जाए उतना ही इंसान तंदुरुस्त व बलवान बनता है। हेमंत की हवा मानो शुद्ध प्राण है।"

कालक्रम से बूढ़ा देवलोक सिधारा। तब गाँव के लोग उसे ज्यादा

याद करने लगे। उसके श्राद्ध के दिन सब इकट्ठा होकर उसके वचनों को याद किया करते।

एक रोज किसी ने कहा, "भाइयो, हमारे बुजुर्ग के कहे मुताबिक चलेंगे, तभी हम सुखी होंगे। हम ऐसा क्यों न करें कि हेमंत ऋतु के बीत जाने से पेश्तर ही घर की तमाम खिड़कियाँ व दरवाजे बंद करके उसमें हेमंत की प्राणदायी हवा का संग्रह कर लें। दूसरे हेमंत तक वह चलती रहेगी। मुमकिन हो वहाँ तक हम घर के बाहर न निकलें, निकलें तो एक छोटी-सी खिड़की बनाकर उसमें से निकलें। प्रसंग पड़ने पर तनिक खोली, और फिर झट से बंद।"

यह सलाह सभी को जँच गयी और सब ऐसा ही करने लगे। नतीजे का अनुमान आप ही कर लीजिए।

रूढ़ि उपासक, पुराण-प्रिय, चुस्त सनातनी हिन्दू समाज इस नतीजे का सदा ही अनुभव करता रहता है।

('कठोर कृपा' से)

अनोखी गोरक्षा

हम साबरमती आश्रम में थे। बापू मगनलाल भाई के घर में रहते थे। इसका अर्थ यह हुआ कि यह घटना मगनलाल भाई के देहांत के बाद की है।

बापू को जिस तरह देश के सार्वजनिक कार्यों की समस्याएँ हल करनी पड़तीं, उसी तरह अपने मित्रों की कौटुम्बिक समस्याएँ भी अनेक बार हल करनी पड़तीं। शायद ऐसे नाजुक कार्यों में उनको सफलता भी अधिक मिलती थी। और ऐसे कार्यों के द्वारा की हुई राष्ट्रसेवा उनकी सार्वजनिक सेवा से कम न थी।

बापू के एक परिचित परिवार के किसी युवक का विवाह तय हुआ था। कन्यापक्ष के लोग संबंध तय करके एक चिन्ता से मुक्त हुए ही थे कि इतने में लड़का बिगड़ बैठा। कहने लगा, "मुझे यह शादी नहीं करनी है।" उसे बहुत समझाया गया, पर वह नहीं माना। अंत में कन्यापक्ष के लोग हताश होकर बापू के पास आए। उनको संकोच तो होता था कि बापू जैसे विश्ववन्द्य पुरुष का समय ऐसे काम में हम कैसे लें। लेकिन लाचार

आदमी क्या नहीं करता? बापू ने उस लड़के को बुलवाया और उससे खूब बातें कीं। कन्यापक्ष के लोग बैठकर सब सुन रहे थे। दो-तीन दिन तक लगातार बापू ने उस लड़के के साथ सिरपच्ची की। लड़का कितना वाहियात था, यह सब देख रहे थे।

तीसरे दिन किसी कार्यवश मैं बापू के पास गया। लड़का जोर-जोर से अपनी कठिनाई पेश कर रहा था। कहता था—"मेरे पिता तो मुझसे पाँच घंटे का काम माँगते हैं। वे कहते हैं कि दुकान पर पाँच घंटे तक बैठना होगा। अब बापू, आप ही बताइए कि आजकल के लड़के भला दो घंटे से ज़्यादा काम कर सकते हैं। मेरी परेशानी आपसे क्या कहूँ?" इत्यादि।

बापू ने सब-कुछ शांति से सुना। और अंत में लड़के के मुँह से किसी तरह विवाह की स्वीकृति निकलवा ली। शादी करने के लिए वह राजी हो गया। कन्यापक्ष के लोग चिंतामुक्त हुए।

इतने में बापू गम्भीर हो गए। फिर उस लड़के को जरा बाहर बैठने के लिए कहा और कन्यापक्ष वालों से अपील की कि इस लड़के की हालत तो आप लोग तीन दिन से देख ही रहे हैं। कैसी परिस्थिति में उससे स्वीकृति लेनी पड़ी, यह भी आपने देख लिया। अब मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या अब भी आप यह विवाह कराना चाहते हैं।

कन्यापक्ष का जो प्रधान पुरुष था, उसके चेहरे की ओर मैं देखता रहा। उसके मन में भारी उथल-पुथल मची हुई थी। उसके मुँह से न हाँ निकले न ना। और बापू तो अपनी विलक्षण भेदक दृष्टि से उसकी तरफ देखते ही रहे। खूब सोचकर उस आदमी ने कहा (उसका गला भर आया था), "महात्माजी, आपकी बात सही है। हमारा आग्रह अब नहीं रहा।"

उसी क्षण बापूजी ने उस लड़के को अंदर बुलाया और कहा, "तुम पर मैं बोझ नहीं डालना चाहता। इनसे मैंने बातचीत कर ली है। तुम इस विवाह संबंध से मुक्त हो। अब तुम जाओ।"

लड़का चला गया। कन्यापक्ष के लोग भी वहाँ से उठे। बापूजी मेरी ओर मुड़े। मेरी बात सुनने के पहले वे कहने लगे, "काका, आज मैंने गोरक्षा का काम किया। जब मैं गोरक्षा की बात करता हूँ, तब केवल चतुष्पाद जानवरों का ही खयाल मेरे मन में नहीं रहता। न जाने हम उस बेचारी बालिका का क्या करने बैठे थे। खैर, यह एक मंगल-कार्य हो गया।"

इतना कहकर मेरे काम की ओर बापूजी ने ध्यान दिया। फिर भी उनके चेहरे पर मुक्ति का निःश्वास दीर्घ काल तक बना रहा।

('बापू की झाँकियाँ' से)

मरण का सच्चा स्वरूप

'दिवस' शब्द के दो अर्थ होते हैं—एक संकुचित, दूसरा व्यापक। सुबह से शाम तक के बारह घंटे के प्रकाशमय विभाग को दिवस कहते हैं, दूसरे अँधेरे वाले विभाग को रात्रि।

'दिवस' शब्द का दूसरा व्यापक अर्थ है। दिवस और रात्रि मिलकर होने वाले चौबीस घंटों के काल विभाग को भी 'दिवस' कहते हैं। जब महीनों के और वर्षों के दिवसों की गिनती होती है तब चौबीस घंटे के समस्त दिवस का ही विचार किया जाता है।

'जीवन' शब्द के भी ऐसे ही दो अर्थ होते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु के क्षण तक के कालखण्ड को भी 'जीवन' कहते हैं और जीवन तथा मृत्यु दोनों को मिलाकर जो व्यापक हस्ती होती है, उसे भी 'जीवन' कहते हैं। सचमुच तो जीवन और मृत्यु दोनों को मिलाकर ही सम्पूर्ण जीवन बनता है।

हम कितने वर्ष जीयेंगे, सो कोई नहीं जानता। मृत्यु के बाद फिर से नया ज़न्म लेने तक कितना समय अज्ञात अँधेरे में रहेंगे, सो भी हम नहीं जानते। मृत्यु होने के बाद और नंव जन्म प्राप्त होने के पहले क्या हमारा जीवन शून्य रूप ही होता है? सही हालत कौन कह सकेगा? केवल कल्पना ही करनी पड़ती है।

रात को जब हम सोते हैं, तब अपने को भूल जाते हैं। मानो हमें क्लोरोफॉर्म दिया गया हो या ऐसा इंजेक्शन कि जिससे चेतना गुम हो जाए। लेकिन बहुत दफे हम सोते-सोते एक नयी सृष्टि खड़ी करते हैं, जिसे स्वप्नसृष्टि कहते हैं।

यह स्वप्नसृष्टि क्या है, सो हम निश्चित रूप से नहीं जानते। कभी-कभी जाग्रतसृष्टि के बिखरे हुए अंशों का प्रतिबिम्ब उसमें होता है। उसमें भी ऐसे खण्डित और अस्पष्ट चित्र मिलाकर एक नया ही अभूतपूर्व अकल्प चित्र बनाया जाता है। उसका सर्जक कौन है, सो हम नहीं जानते। हमारी उस स्वप्नसृष्टि में चाहे जितने व्यक्तियों का दर्शन होता होगा, पर सारी

स्वप्नसृष्टि हमारी अकेले ही होती है। उसमें औरों को कभी प्रवेश नहीं मिलता।

इस स्वप्नसृष्टि का पारमार्थिक स्वीकार और थोड़ा चिंतन 'मांडूक्य उपनिषद्' में पाया जाता है। उसके काल्पनिक वर्णन पुराणों में पढ़ने को मिलते हैं और उसका अर्थ करने की अर्थविहीन कोशिश स्वप्नाध्याय में हमने पढ़ी थी। आजकल फ्रायड और युंग जैसे मानस-विज्ञानवेत्ता मनीषी स्वप्न का व्यवस्थित अर्थ करने की कोशिश कर रहे हैं। उससे इस वक्त हमें कोई मतलब नहीं है। हमारा सवाल इतना ही है कि नींद के दरम्यान जैसे एक जाग्रत बाह्य स्वप्नसृष्टि का अनुभव होता है वैसे ही मृत्युकाल में कोई जीवन-बाह्य मृत्युसृष्टि होती है या नहीं? पुराणों ने ऐसी सृष्टि की कल्पना की है, लेकिन उससे कोई खास मदद नहीं मिलती।

जो हो, परिचित जीवन और अज्ञात-अपरिचित मृत्यु मिलकर जो जीवन होता है, उसी का विचार हमें करना है।

ऐसा लगता है कि जन्म-मृत्यु को मिलाकर जो विशाल जीवन बनता है, वह एक विशाल गहरा सागर है। संकुचित अर्थ में जिसे हम जीवन कहते हैं, वह तो उस विराट सागर का केवल पृष्ठभाग ही है। जीवन की गहराई तो मृत्यु में ही देखनी पड़ेगी। इस क्षण यह केवल कल्पना ही है। किंतु मृत्यु को अगर हम एक क्षण मानें और मरण को दो जीवनों के बीच की अज्ञात अवधि मानें, तो उस कालखण्ड की जानकारी किसी-न-किसी दिन होनी ही चाहिए। अगर ऐसी जानकारी मिली तो पूर्वजन्म का सवाल भी हल हो जाएगा और जन्मान्तर तथा मोक्ष का सिद्धांत भी स्पष्ट होगा।

जो हो, इस वक्त तो जीवन और मृत्यु को मिलाकर जो विशाल जीवन बनता है, उसी का चिंतन करना चाहते हैं।

जो जीवन हम जीते हैं, उसके भी दो विभाग करना जरूरी है। इसके लिए हम एक वृक्ष की मिसाल लें।

बीज में से जब अंकुर निकलता है तब से वृक्ष अपनी पूरी ऊँचाई तक पहुँचता है तब तक उसके कलेवर में वृद्धि होती जाती है। ऊँचाई, विस्तार और जड़ों की गहराई तीनों में वृद्धि होती हुई हम स्पष्ट देखते हैं। जब इस विस्तार की मर्यादा आ जाती है तब न ऊँचाई बढ़ती है, न शाखाओं की संख्या। पत्ते भी पुराने गिरते हैं और नए पैदा होते हैं, लेकिन विस्तार

पूरा होने के बाद वृक्ष के बाह्य रूप में कोई फर्क नहीं दीख पड़ता है। लेकिन उसके विकास का अंत नहीं होता। विस्तार की पूर्णता के बाद वृक्ष का सारा कलेवर अंदर से परिपक्व, मजबूत और सुघट बनता जाता है। उसके फलों में भी रस की दृष्टि से फर्क होने लगता है। इसी तरह जीवन का विस्तार उसकी मर्यादा तक बढ़ने के बाद आन्तरिक परिपक्वता में वह बढ़ता जाता है, कोई यह नहीं कहता विस्तार रुक गया, इसलिए विकास भी रुक गया। ऐसे भी वृक्ष हैं कि आठ-दस वर्ष के विस्तार के बाद सौ-दो सौ वर्ष या अधिक समय तक उनका आंतरिक विकास होता रहता है, जिसे परिपक्वता कहते हैं।

हमारे शास्त्रकारों ने कर्मभूमि और भोगभूमि ऐसा एक भेद बताया है। यह पृथ्वी कर्मभूमि है। इसमें पुरुषार्थ के लिए अवकाश है। इसमें मनुष्य अपने को सुधार सकता है या बिगाड़ सकता है। भोगभूमि में पुण्य-पाप का फल भुगतने की बात रहती है। उसमें नए पुरुषार्थ के लिए अवकाश नहीं रहता। कर्मभूमि और भोगभूमि का यह भेद और ऊपर बताया हुआ विस्तार और विस्ताररहित परिपक्वता का भेद ध्यान में लेने के बाद हम कल्पना कर सकते हैं कि मरण के बाद मनुष्य तुरंत दूसरा जन्म नहीं लेता। किंतु जो जीवन पूरा किया उसके सब संस्कारों को हजम करके परिपक्व बनाने के लिए कुछ समय लेता है। मृत्यु के बाद की मरणावस्था केवल शून्यमय अथवा अभावात्मक नहीं है, किंतु पाचन की क्रिया के जैसा कुछ परिवर्तन करने का यह काल होगा। गणित, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन करने वाले लोगों का अनुभव है कि पढ़ते-पढ़ते अथवा प्रयोग करते-करते जो बात किसी भी तरह ध्यान में नहीं आती वह सोकर उठने के बाद तुरंत स्पष्ट होती है और कभी-कभी नयी दिशा ही मिलती है। वे कहते हैं कि नींद में सुप्त मन किसी अजीब ढंग से काम करता रहता है और जागृति में मन जहाँ नहीं पहुँच सकता था, वहाँ सुषुप्ति में पहुँच सकता है। जागृति में प्रयोग हो सकते हों, स्वप्न और सुषुप्ति में अकेला चिंतन हो सकता हो, तो मरण के द्वारा जीवनानुभूति का रसायन बनाने की क्रिया क्यों नहीं होती होगी?

मरण-पूर्व जीवन का खात्मा होते ही सब-कुछ खत्म हो जाता, तो मनुष्य को विशाल निस्सारता का और वैफल्य का ही अनुभव होता। मृत्यु

का सतत दर्शन होते हुए भी मनुष्य के मन में अमरत्व की जो अदम्य कल्पना बनी रहती है, उसी पर से यह स्पष्ट कल्पना सहज रूप में होती है कि मृत्यु के बाद मरण-प्रधान अथवा मरणाधीन एक अद्‌भुत अज्ञात जीवन होता है, जिसका खयाल हमें नहीं है। आत्मा की प्रगति मरणावधि के जीवन में उत्तम ढंग से होती होगी। उस अवधि में ज्ञानप्राप्ति के लिए भौतिक इन्द्रिय की मदद की जरूरत शायद नहीं रहती होगी।

जो हो, मरणावस्था की व्याप्ति और उसका स्वरूप आज हम नहीं जानते, इसलिए हम उसका महत्व कम न मानें।

मरण के बारे में हमारा डर इतना जबरदस्त होता है कि मरण क्या है, इसका चिंतन-मनन करने के लिए जरूरी तटस्थता और उत्साह हम खो बैठते हैं। हम नहीं मानते कि मनुष्य अगर पूरे निश्चय से कुतूहल को जाग्रत करे, तो कोई भी वस्तु उसके लिए अज्ञात रह सकती है।

आजकल छोटे एकांकी नाटक हम देखते हैं। पुराने नाटक पाँच अथवा सात अंक के होते हैं। इन अंकों में सम्भाषण, अभिनय और गीतों के द्वारा जीवन का प्रदर्शन करने के बाद एक पर्दा आता है और उसके ऊपर उठने पर दूसरा अंक शुरू होता है। कभी-कभी दो अंकों के बीच जो घटनाएँ होती हैं वे नाट्यानुकूल न होते हुए भी बतानी तो पड़ती हैं, इसलिए दो अंकों के बीच एक छोटा-सा प्रवेश डालते हैं, जिसे 'विष्कम्भक' कहते हैं।

जब पर्दा गिरता है तब नटों को नवीन अंक की तैयारी करने का और वेश बदलने का अवकाश मिलता है। विष्कम्भक के द्वारा दो अंकों के घटनाक्रम के बीच की कड़ी प्रेक्षकों को बताई जाती है। जब विष्कम्भक नहीं होता तब प्रेक्षकों को कड़ियों की कल्पना ही करनी पड़ती है।

अब एक जन्म के अंत में मृत्यु का पर्दा गिरते ही तुरंत उसे ऊपर नहीं खींचा जाता। मृत्यु को या तो हम दो प्रकट जीवनों के बीच का एक पर्दा समझ सकते हैं अथवा विष्कम्भक। लेखन में एक वाक्य पूरा होने पर हम पूर्ण-विराम का एक बिंदु अथवा दंड रखते हैं और किसी नव विचार के प्रारम्भ की ओर ध्यान खींचने के लिए नई कंडिका से उसका प्रारम्भ करते हैं। एक कंडिका का विस्तार पूरा हुआ, उसका मतलब ध्यान में आया, उस मतलब को साथ लेकर आगे बढ़ने के लिए विचार की नई साँस लेना जरूरी है, ऐसा जब लगता है, तब हम नई कंडिका शुरू करते हैं। एक-एक

मृत्यु को इसी तरह हम कंडिका का अंतर भी समझ सकते हैं और जब अध्याय बदलता है, प्रकरण बदलता है, तब भी यह परिवर्तन कालसूचक और विचार की ताजगी पैदा करने वाला प्रारम्भक बनता है। मृत्यु भी विशाल जीवन के लिए ऐसा ही एक आंवश्यक परिवर्तन गिना जा सकता है।

जो हो, मृत्यु हमारे जीवन का एक अत्यंत आवश्यक और पोषक अंग है, इतना तो स्पष्ट होता है, लेकिन मृत्यु की अवधि विकास-शून्य होगी, ऐसी कल्पना करना हमारे लिए मुश्किल है। इसलिए हम तो दिवस और रात्रि के क्रम के जैसा ही जीवन और मरण का क्रम है, ऐसा मानते हैं। पुराणकारों ने दो जीवनों के बीच की अवधि की कथाएँ रचकर उसकी एक काल्पनिक स्वप्नसृष्टि बनाई है। हमारी कल्पना के लिए उनके प्रयास पोषक हैं। लेकिन पुराणकारों की इस मरणसृष्टि का हम कुछ विशेष महत्व नहीं मानते क्योंकि पुराण न तो केवल इतिहास है, न केवल कल्पना है, वह एक काव्यमय सृष्टि है। संस्कृति के आकलन के लिए वह उपयोगी है और विनोद के लिए उसका उपयोग स्पष्ट है ही।

मरण का भय रखकर बुद्धि को जड़ बना देना और कल्पना को मूर्च्छित करना हमें पसंद नहीं है। अगर हम ज्ञानोपासक बनकर मृत्यु के रहस्य को ढूँढने की कोशिश करेंगे, तो हमारा विश्वास है कि भगवान् की कृपा से हमें उसमें सफलता मिलेगी, निराश नहीं होना पड़ेगा। हमारा यह भी विश्वास है कि मरणावधि का जीवन हमारे जीवन से कम महत्व का नहीं है।

('परम सखा मृत्यु' से)

गीतांजलि : विश्वसाथे जोगे जेथाय विहारो

चार बच्चों की माँ को एक अनुभव हमेशा होता रहता है। हर एक बच्चा कहता है कि माँ मेरी है। फिर वह बच्चे आपस में झगड़ने लगते हैं और कहते हैं, "माँ तेरी नहीं, मेरी ही है।" प्रेम का ही झगड़ा होता है वह। उसका फैसला मारपीट से थोड़े ही किया जाता है? आखिर लड़के माँ के पास जाकर पूछते हैं, "सच कहो माँ, बिलकुल सही-सही बताओ, तुम किसकी हो?" माँ अगर माँ न होती तो चिढ़कर कहती, 'मैं किसी की नहीं हूँ, निकल जाओ।' लेकिन माँ प्रेम से हँसकर जवाब देती है, "अरे, मैं तो सबकी हूँ, किसी एक की नहीं हूँ, ऐसा कभी हो सकता है?" चन्द

लड़के यह जवाब सुनकर मायूस हो जाते हैं। लेकिन कुछ समझदार लड़के देखते हैं कि माँ का कहना यथार्थ है और कहते हैं—माँ सभों की, सभों की, इसीलिए मेरी माँ तेरी, मेरी, सभों की। तेरी, मेरी, सभों की।

माँ अपने भाई की हो जाने से उतनी मात्रा में अपनी कम हो गई, ऐसी संकुचित दृष्टि जब तक थी तब तक झगड़ा था। माँ के जवाब से बच्चों की जीवन-दृष्टि ही पलट गई। उनको मालूम हो गया कि माँ अपने भाइयों की है इसलिए अपनी कम नहीं होती। वह सबकी है, इसीलिए अपनी भी है।

चन्द भक्त और चन्द जातियाँ ईश्वर का सारा ठेका अपने ही पास रहे, ऐसी कोशिश पहले करते हैं, युग-युग से करते रहे हैं। लेकिन जब भगवान् का सच्चा स्वरूप उनकी समझ में आता है तब उन्हें यकीन होता है कि ईश्वर अगर सबका न हो, तो अपना हो ही नहीं सकता। ईश्वर का यथार्थ स्वरूप समझने पर उसका और अपना संबंध भी शुद्ध रूप से ध्यान में आता है और उसी में असाधारण आनन्द की प्राप्ति होने लगती है। ईश्वर का यह सच्चा स्वरूप और ईश्वर के साथ का अपना सर्वसाधारण संबंध ध्यान में आ जाने पर कवि ईश्वर के प्रति अपना आनन्द-गान गाने लगता है।

तुम सबके हो इस बात का मुझे जहाँ साक्षात्कार हुआ वहीं पर तुम्हारा दर्शन मुझे होने दो। तुम जहाँ सबको आलिंगन देते हो, वहीं पर मेरे हृदय में भक्ति का उदय होने दो।

—विश्वसाथे जोगे जेथाय विहारो
सेइखाने जोग तोमार साथे आमारो।
नयको वने, नय विजने,
नयको आमार आपन मने,
सबार जेथाय आपन तुमि हे प्रिय
सेथाय आपन आमारो।
सबार पाने जेथाय बाहु पसारो
सेइखाने तेइ प्रेम जागिबे आमारो।
गोपने प्रेम रय ना घरे,
आलोर भतो छड़िये पड़े

सबार तुमि आनन्दधन हे प्रिय,
आनन्द सेइ आमारो।

—"हे सर्वांतर्यामी सर्वेश्वर, इस विश्व के साथ संकलित होकर जहाँ तुम विहार करते हो, वहीं पर तुम्हारा-मेरा परिचय हो, तुम्हारा-मेरा संबंध बँध जाए।

मैं तुम्हें वन में देखना नहीं चाहता, विजन में पहचानना नहीं चाहता। मेरे अपने मन में और अंतःकरण में तुम्हारा साक्षात्कार हो जाए यह भी मेरी अभिलाषा नहीं है। लेकिन हे प्रिय, तुम जहाँ सबके आत्मीय बनते हो वहीं पर तुम मेरे भी आत्मीय बनो, इतनी ही मेरी चाह है।

जहाँ तुम सबको प्रेमपाश में लेने के लिए अपनी भुजाएँ फैलाते हो उसी क्षण, उसी स्थान पर मेरी भी भक्ति जाग उठे, उमड़ उठे, यही अब मेरी कामना है। अपना प्रेम—मेरी भक्ति और तुम्हारा वात्सल्य भाव—अब एकांत में छिपकर नहीं रहेगा। प्रकाश जिस तरह सर्वत्र फैलता रहता है, उसी तरह अपना यह प्रेम-संबंध भी अनन्त तक प्रकाशित होता रहेगा। हे प्रिय, तुम सबके आनन्दधन हो, यही खुशी की बात है। तुम सबके आनन्द-रमण हो, इसी में मुझे आनन्द है। हे मेरे हृदय-संतोष, तुमको पहचान लेने से ही मेरा हृदय विराट बना हुआ है। अब मैं तुम्हें कौन-से कोने में देखूँ? कहीं कोई कोना ही नहीं रहा। सर्वत्र अनन्त ही है।"

('युगमूर्ति रवीन्द्रनाथ' से)

परिशिष्ट-2

1. काका साहब के जीवन की मुख्य तिथियाँ

परिवार : पिताजी बालकृष्ण जीवाजी, जन्म–1833 अथवा वि. 1934, चैत्र शुक्ल प्रतिपदा; निधन–25 फरवरी, 1910, माघ पूर्णिमा; वय 76-77 वर्ष। सतारा में कलेक्टर रहे।

माताजी : राधाबाई, जन्म..., निधन–18 जून, 1908।

भाई-बहन : छह भाई, एक बहन।

1. मंगेश (बाबा), 2. रघुनाथ (अण्णा), 3. भागीरथी (आक्का), 4. विष्णु, 5. केशू (भाऊ), 6. गोंदू (नाना), 7. दत्तू दत्तात्रेय (काका साहब)।

1 दिसम्बर, 1885 : काका साहब का जन्म सतारा में 1 दिसम्बर, 1885 कार्तिक कृष्ण 10, शक संवत 1807।

1892, 11 मार्च : सतारा छोड़कर कारवार गए। मराठी की दूसरी कक्षा, नूतन मराठी विद्यालय, पूना; मराठी तीसरी, कारबार; मराठी चौथी, शाहपुर, बेलगाम।

1894 : चीन-जापान युद्ध; गोवा में राणाओं का विद्रोह।

1897 : शाहपुर, महारानी विक्टोरिया की डायमण्ड जुबली। रैण्ड-आयर्स्ट की हत्या। बम्बई-पूना क्षेत्र में प्लेग का आरम्भ। अंग्रेजी पहली। दूसरी कक्षा, सावनूर।

1898 : कारवार छोड़कर धारवाड़ पहुँचे, चौथी कक्षा। प्लेग में तीसरे भाई विष्णु की मृत्यु। बोअर-युद्ध 1899-1902; गोवा में प्रथम निवास, वायरलेस टेलीग्राफी का आरम्भ।

1900 : धारवाड़ छोड़कर बेलगाम आए। चीन में बॉक्सर-युद्ध।

1901 : महारानी विक्टोरिया की मृत्यु।

1902 : बोअर-युद्ध समाप्त। ज्येष्ठ महीने में लक्ष्मी शिरोड़कर के साथ विवाह। अंग्रेजी छठी कक्षा।

1903 : मैट्रिक पास हुए; स्कूल फाइनल की परीक्षा भी। पिताजी ने पेंशन प्राप्त की और सांगली राज्य में ट्रेजरी ऑफिसर नियुक्त। इंग्लैंड में फ्री ट्रेड और प्रोजेक्शन का झगड़ा।

1904-1905 : रूस-जापान युद्ध आरम्भ।

1904-1907 : फर्ग्युसन कॉलेज, पूना में।

1905 : बंग-भंग। बनारस में गोखलेजी कांग्रेस अध्यक्ष।

1906 : बहिष्कार आंदोलन। लाजपतराय और अजित सिंह का निर्वासन।

1907, मई : छह वर्षों तक शक्कर न खाने का व्रत लिया। सान्फ्रांसिस्को में भूकम्प।

1907 : बी. ए. पास हुए।

1908 : तीसरी संयुक्त गौड़ सारस्वत ब्राह्मण परिषद्। बेलगाम के गणेश विद्यालय में आचार्य का पद-ग्रहण। उसको छोड़कर एल. एल. बी. प्रथम वर्ष की परीक्षा पास की।

18 जून, 1908 : माताजी का स्वर्गवास। लोकमान्य तिलक को 6 वर्ष के कारावास की सजा। इंग्लैंड में कर्जन वायली की हत्या।

23 जून, 1909 : प्रथम पुत्र शंकर (सतीश) का जन्म। बम्बई में एल. एल. बी. द्वितीय वर्ष में प्रवेश। मराठी दैनिक 'राष्ट्रमत' में कार्यारम्भ। वहाँ दत्तोपंत आप्टे, वीर वामनराव, गोपालराव ओगले, हरिभाऊ फाटक, स्वामी आनन्द आदि साथी थे। गंगाधरराव देशपांडे सबके अगुआ।

1910 : नासिक केस। पिताजी की मृत्यु। टॉलस्टॉय की मृत्यु। सरकार ने 'राष्ट्रमत' बंद किया। हेली का धूमकेतु दीखा।

1910-1911 : गंगनाथ विद्यालय (बड़ौदा) के आचार्य। 1911 के दिल्ली दरबार के बाद विद्यालय बंद। पुर्तगाल में रिपब्लिक की स्थापना।

1912 : हिमालय की ओर प्रयाण। द्वितीय पुत्र बाल का जन्म 21 मई, 1912। चीन में रिपब्लिक की स्थापना। हिमालय की यात्रा—कलकत्ता, अयोध्या, अल्मोड़ा, गंगोत्री, जमनोत्री, केदार, बद्री, हरिद्वार, लाहौर, रावलपिण्डी, काश्मीर, अमरनाथ, श्रीनगर, जम्मू, ऋषिकेश, टिहरी, देहरादून।

10 दिसम्बर, 1912 : दिल्ली में लॉर्ड हार्डिंग पर बम फेंका गया। बीमारी के कारण देहरादून रहे।

1913 : ऋषिकुल, हरिद्वार के मुख्य अधिष्ठाता। मुजफ्फरनगर, नेपाल की यात्रा। शांति निकेतन देखने गए—पहली बार।

1914 : प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ा। लोकमान्य तिलक छूटे। गिरिधारी कृपलानी के साथ शांति निकेतन में रहे।

1914-1915 : छह महीने ब्रह्मचर्याश्रम, सिंध में। फिर शांति निकेतन।

1915 : फरवरी—शांति निकेतन में गांधीजी आए। उनके साथ भेंट हुई। 16 फरवरी, गोखलेजी का स्वर्गवास। कृपलानी को पत्र लिखकर गांधीजी से मिलने बुलाया। शांति निकेतन में मगनलाल गांधी, मगनभाई पटेल, मणिलाल, रामदास, देवदास, प्रभुदास, कृष्णदास, जमुनादास गांधी, हरिहर शर्मा, चिंतामणि शास्त्री, भीमराव शास्त्री आदि थे। 6 मार्च, गांधीजी पुनः शांति निकेतन आए। शांति निकेतन में 40 दिन तक स्वावलम्बन चला। 4 मार्च, रवि बाबू की रचना 'फाल्गुनी' सुनी। 31 मार्च, गांधीजी की फिनिक्स पार्टी हरिद्वार गयी। 25 मई, कोचरब में आश्रम की स्थापना। 3 जून, रवीन्द्रनाथ ठाकुर को 'सर' की उपाधि मिली। अप्रैल-मई, ब्रह्मदेश की यात्रा। वापस बम्बई। दिसम्बर में बम्बई में कांग्रेस अधिवेशन। वहाँ गांधीजी से फिर मिले।

1916 : सयाजीपुरा, बड़ौदा में। ग्रामसेवा, को-ऑपरेटिव डेरी, 'आत्मधर्म' मासिक के संचालन में सहायता (तीन वर्ष तक)। वहाँ से कोचरब आश्रम में, एक महीने के लिए। बेलगाम में प्रान्त की राजनैतिक परिषद्, लोकमान्य की अध्यक्षता में। 4 फरवरी, हिन्दू विश्वविद्यालय में गांधीजी का भाषण। लखनऊ कांग्रेस। हिन्दू-मुस्लिम समझौता।

1917 : फिजी में प्रचलित गिरमिटिया पद्धति बंद की गई। 10 अप्रैल, चम्पारण जाते समय मार्ग में बड़ौदा स्टेशन पर गांधीजी काका साहब से मिले और उन्होंने आश्रम की पाठशाला में सम्मिलित होने का निर्णय अंतिम रूप से किया। आश्रम की पाठशाला से जुड़े। शिक्षा परिषद् भड़ौच के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी के विषय में लेख लिखा। अहमदाबाद में मजदूरों की हड़ताल (धर्मयुद्ध)। सिंध की यात्रा में गांधीजी के साथ।

1918 : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इंदौर में गांधीजी के साथ। गोधरा

परिषद्।

1919 : रौलेट कानून। पंजाब, गुजरात आदि स्थानों में दंगे।

1920 : गुजराती साहित्य सम्मेलन के अवसर पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का अहमदाबाद आगमन। उस समय उनके विषय में गुजराती में लेख लिखा (पहला गुजराती लेख)। गुजरात राजनैतिक परिषद्, अहमदाबाद। 19 जुलाई, विद्यापीठ की स्थापना का प्रस्ताव। नागपुर कांग्रेस। अजन्ता की गुफाएँ देखीं।

1921 : अहमदाबाद की खादी कांग्रेस; कला-प्रदर्शनी की रचना।

1922 : 'यंग इण्डिया', 'नवजीवन' के मुकदमे। गांधीजी को छह वर्ष की सजा। 'नवजीवन' में काका साहब का प्रथम अग्रलेख। 4 जून, बारडोली का कार्यक्रम। पुरातत्व-मंदिर द्वारा 'उपनिषद् पाठावली' प्रकाशित।

1923 : महादेव भाई इलाहाबाद जेल से वापस आए। 'नवजीवन' में प्रकाशित लेखों के कारण धारा 124 (अ) का अभियोग और एक वर्ष की सजा। जेल-यात्रा के दिनों में हिन्दू-मुस्लिम दंगे शुरू। सितम्बर में दिल्ली में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन।

1924 : एक साल जेल में रहने के बाद बाहर। बनारस में शिक्षा परिषद् का अधिवेशन। 5 फरवरी, गांधीजी जेल से मुक्त। काका साहब उनसे पहले छूट चुके थे। 13 मई, बोरसद राजनैतिक परिषद् के सभापति। 25 जून, अहमदाबाद में अखिल भारत कांग्रेस कमेटी की बैठक। पत्रकार परिषद् में निबंध पढ़ा—'पत्रकार की दीक्षा'। बेलगाम कांग्रेस—गांधीजी के सभापतित्व में। सफाई काम की देखरेख।

1925 : आरोग्य की खोज में—चिंचवड़, सिंहगढ़ आदि।

1927 : गांधीजी के साथ दक्षिण भारत और श्रीलंका की यात्रा।

1928 : विद्यापीठ का पुनर्गठन, काका साहब विद्यापीठ के कुलनायक बने और उसके काम का सारा दायित्व सँभाला।

1929 : विद्यापीठ द्वारा गुजराती भाषा के 'जोड़णी कोश' का प्रकाशन।

1930 : 26 जनवरी, स्वतंत्रता दिवस की प्रतिज्ञा—'धन्यघड़ी'। दाँडी-कूच। विद्यापीठ एक छावनी में परिवर्तित। विद्यापीठ में राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन और छात्रालय सम्मेलन। तलेगाँव में सातवीं महाराष्ट्रीय राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् के सभापति। आणन्द में मुकदमा चला। सजा हुई। गांधीजी

के साथ यरवदा जेल में। जेल से छूटे।

1931 : स्वराज्य विद्यालय और अन्य प्रवृत्तियाँ।

1932 : स्वराज्य-संग्राम। 5 जनवरी को गिरफ्तारी। साबरमती तथा हिंडलगा जेल। 'हिंडलग्याचा प्रसाद' (मराठी) लिखवाया।

1933 : पुनः पकड़े गए। हैदराबाद जेल में श्री डांगे के साथ। उन्हें मराठी में 'गीता-धर्म' लिखवाया।

1934 : जेल से छूटे।

20 अप्रैल, 1935 : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इंदौर। लिपि-सुधार समिति के अध्यक्ष।

1936 : बारहवाँ गुजराती साहित्य सम्मेलन—कला विभाग के सभापति। गांधीजी सम्मेलन के अध्यक्ष। नागपुर में अखिल भारतीय साहित्य परिषद्। नवजीवन ने काका साहब के गुजराती लेखों के विषयवार संग्रह प्रकाशित करने शुरू किए। इसी साल 'जीवन-विकास' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ।

1937 : वर्धा में अखिल भारतीय शिक्षा परिषद्—नया समन्वय। वर्धा शिक्षा योजना की समिति के सदस्य। मद्रास में अखिल भारतीय साहित्य परिषद् की दूसरी बैठक।

1938 : अगस्त से 'सर्वोदय' मासिक का प्रकाशन प्रारम्भ।

1939 : अक्टूबर से 'सबकी बोली' का प्रकाशन। 'बुनियादी हिन्दी' की घोषणा। राष्ट्रभाषा की वैज्ञानिक शीघ्रलिपि। हिन्दी लेखन यंत्र।

1942 : मई में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना। अगस्त में 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू। आगा खान महल में महादेव भाई देसाई की मृत्यु।

1943-1944 : मध्य प्रान्त और दक्षिण भारत की जेलों में। 22 फरवरी, आगा खान महल में कस्तूरबा गांधी का स्वर्गवास।

1945 : सीवनी (म. प्रा.) जेल से छूटे। हिन्दुस्तानी के प्रचार का काम किया।

1946 : अहमदाबाद आदि स्थानों में षष्ट्यब्दी पूर्ति के उत्सव मनाए गए।

15 अगस्त, 1947 : विभाजन के साथ भारत स्वतंत्र।

30 जनवरी, 1948 : गांधीजी की हत्या। गांधी स्मारक निधि की स्थापना। भारत सरकार की हिन्दी शॉर्ट हैंड और टाइपराइटर समिति के अध्यक्ष। सर्वसेवा संघ की स्थापना।

1949 : बम्बई में गांधी स्मारक संग्रहालय की स्थापना।

1950 : मई से अगस्त, पूर्वी अफ्रीका की यात्रा (युगांडा, केनिया, टांगानिका, जंजीबार), इन देशों के साथ रुआंडा, उरुंडी भी—जो कांगो के पास हैं। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के सभापति। इण्डियन कौंसिल फॉर कल्चरल रिलेशन्स के उपाध्यक्ष।

1951 : गांधी स्मारक संग्रहालय का, जिसके काका साहब डायरेक्टर थे, स्थानांतर बम्बई से दिल्ली को।

1952 : राष्ट्रपति की ओर से राज्यसभा के सदस्य मनोनीत। हिन्दुस्तानी तालीमी संघ (बुनियादी तालीम) के अध्यक्ष। पहली यूरोप यात्रा (स्विट्जरलैंड, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड, पुर्तगाल) इसके बाद पश्चिम अफ्रीका, गोल्डकोस्ट, (घाना, नाइजीरिया और मिस्र की यात्रा।

1953 : राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त पिछड़ी जाति आयोग के अध्यक्ष, इसी सिलसिले में भारत-भ्रमण।

1954 : जापान यात्रा (पहली बार) और भारत-भ्रमण।

1955 : पिछड़ी जातियों के आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित।

1956 : सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय प्रकाशन की सरकारी योजना के सलाहकार मण्डल में नियुक्ति।

1957 : दूसरी बार जापान की यात्रा। चीन की यात्रा। थाइलैण्ड और कम्बोज (अंकोरवाट और अंकोरधाम) का प्रवास।

1958 : इंग्लैण्ड, वेस्टइंडीज, त्रिनिदाद, ब्रिटिश गुयाना, सूरीनाम, संयुक्त राष्ट्र अमरीका की यात्रा। दूसरी बार राज्यसभा के सदस्य मनोनीत।

1959 : पूर्व अफ्रीका के चारों देशों के प्रवास के बाद मॉरीशस, रियूनियन, मेडागास्कर (मैलेगासी) की यात्रा। गुजराती साहित्य परिषद् के बीसवें सम्मेलन (अहमदाबाद) के सभापति।

1960 : सरकारी हिन्दी विश्वकोश समिति के सदस्य।

1961 : अहमदाबाद में कालेलकर अध्ययन ग्रंथ अर्पित किया गया।

1962 : जापान की तीसरी बार यात्रा; रूस में ताशकन्द, मास्को, यास्नाया पोलियाना और लेनिनग्राद की यात्रा।

1964 : राज्यसभा से निवृत्त; राष्ट्रपति की ओर से 'पद्म विभूषण'

से सम्मानित। बिहार के समन्वय-आश्रम में अभिरुचि का आरम्भ।

1965 : समन्वय-आश्रम के ट्रस्टी मण्डल के अध्यक्ष। बिहार में समन्वय पर्व महोत्सव; 1 दिसम्बर को 80 वर्ष पूर्ण। राष्ट्रपति भवन नई दिल्ली में 'संस्कृति के परिव्राजक' हिन्दी ग्रन्थ राष्ट्रपति द्वारा अर्पित।

1966 : दाहिनी आँख के मोतियाबिन्दु का ऑपरेशन। 'जीवन-व्यवस्था' गुजराती पुस्तक पर साहित्य अकादमी का पारितोषिक। 'परम सखा मृत्यु' हिन्दी पुस्तक पर उत्तर प्रदेश सरकार का पारितोषिक।

1967 : जुलाई-अगस्त, चौथी बार जापान यात्रा। सरोजिनी नाणावटी, रवीन्द्र केलेकर, शरद पण्ड्या साथ थे। गांधी विद्यापीठ वेड़छी की स्थापना। कुलपति बनाए गए। जुगतराम दवे उपकुलपति। बुनियादी तालीम के संचालक आर्यनायकम् का देहांत। सरदार पटेल यूनिवर्सिटी वल्लभ विद्यानगर (आणंद) की ओर से डी. लिट्. की उपाधि। 10 जुलाई, 'विश्व समन्वय संघ' की स्थापना।

1968 : तात्सुमारु सुगियामा की ओर से आमंत्रण, पाँचवीं जापान यात्रा। सुशील कुमार, मोहन परीख, सरोजिनी नाणावटी साथ थे।

1969 : सीमांत गांधी बादशाह खान से अक्टूबर में दिल्ली में मिले। 9 दिसम्बर, 85वीं वर्षगाँठ बम्बई में रेखा प्रकाशन की ओर से मनायी गयी।

1970 : आसाम, नागालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा की यात्रा। 1 दिसम्बर को बम्बई में 86वें जन्मदिन के निमित्त अखिल भारतीय सूतांजलि सम्मान। दक्षिण भारत की यात्रा।

1971 : गोवा-प्रवास। गुजरात यूनिवर्सिटी की ओर से डी. लिट्. की उपाधि और साहित्य अकादमी की ओर से साहित्य फैलोशिप का ताम्रपत्र अहमदाबाद में भेंट। 87वाँ जन्मदिन समारोह गांधी संस्थाओं की ओर से श्री कृपलानीजी की अध्यक्षता में।

1972 : जापानी बौद्ध भिक्षु फुजीई गुरुजी की ओर से आमंत्रण—छठी बार जापान यात्रा। साथ में सरोजिनी नाणावटी और श्रीपाद जोशी। 88वाँ जन्मदिन दिल्ली में मनाया गया।

1973 : 23 सितम्बर से 2 अक्टूबर तक साबरमती आश्रम, अहमदाबाद में। 89वीं वर्षगाँठ की प्रार्थना सभा सन्निधि में। 14-11-73 कच्छ में गढसीसा

में प्रवचन।

1974 : 26 मई, द्वितीय पुत्र बाल का देहांत। अप्रैल में काशी विद्यापीठ की ओर से उपाधि दी गयी। 29 जुलाई, मामा साहब फड़के का देहांत। 29 नवम्बर, नारायणदास गांधी का देहांत। 90वाँ जन्मदिन सन्निधि में।

1975 : 17 मई, रेहाना तैयबजी का देहांत। 91वाँ जन्मदिन सन्निधि, नई दिल्ली में। प्रार्थना-सभा में 'प्रकृति का संगीत' पुस्तक का तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा विमोचन।

1976 : 15 जनवरी, स्वामी आनन्द का देहांत। 30 मार्च, गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा की बैठक। सभा के अध्यक्ष-पद से निवृत्त। सरोजिनी नाणावटी की अध्यक्ष के स्थान पर नियुक्ति। 'मंगल प्रभात' पाक्षिक पत्रिका के संपादक-पद से मुक्ति। अमृतलाल नाणावटी ने संपादक-पद सँभाला। मई में अमृतलाल गंभीर रूप से अस्वस्थ। विलिंगडन अस्पताल में भर्ती।

1977 : 30 मई, डॉ. शरद नाणावटी का देहांत। 28 सितम्बर को गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा की बैठक। अमृतलाल नाणावटी मंत्री स्थान से निवृत्त। हसमुख व्यास की नियुक्ति। 93वाँ जन्मदिन सन्निधि में। प्रार्थना-सभा में 'उपनिषदों का बोध' पुस्तक का विमोचन। 29 दिसम्बर, मनुभाई जोधाणी का स्वर्गवास।

1978 : 3 जनवरी को श्रीमान् नारायण का स्वर्गवास। 16 मार्च, पं. सुखलालजी का देहांत। 15 अगस्त केदारनाथजी का देहांत, नई दिल्ली और बम्बई को छोड़ अन्यत्र न जाने का निश्चय। जाड़े के दिनों में बम्बई गए।

1979 : 2 मई को मार्तण्ड उपाध्याय का देहांत। दो-तीन दफे मलेरिया बुखार। 1 दिसम्बर को 95वें जन्मदिवस के शुभ अवसर पर 'समन्वय के साधक' नामक अभिनन्दन ग्रन्थ भारत के उपराष्ट्रपति जस्टिस एम. हिदायतुल्ला द्वारा सन्निधि, नई दिल्ली में समर्पित।

1981 : 21 अगस्त को दोपहर पौने तीन बजे सन्निधि, नई दिल्ली में निर्वाण।

2. काका साहब के ग्रंथों की सूची

गुजराती

1. स्वदेशी धर्म 1920
2. कालेलकरना लेखो भाग-1, 1923
3. गामडामां जईने शुं करीशुं? 1923
4. पूर्वरंग (श्री नरहरि पारीख के साथ) 1923
5. हिमालयनो प्रवास 1924
6. कालेलकरना लेखो भाग-2, 1925
7. ओतराती दीवालो 1925
8. करंडिया, बेकरी
9. ब्रह्मदेशनो प्रवास 1931
10. जीवता तहेवारो 1934
11. लोकमाता 1934
12. स्मरण यात्रा 1934
13. लोकजीवन (मराठी हिण्डलग्याचा प्रसाद का अनुवाद) 1935
14. जीवननो आनन्द 1936
15. जीवन-विकास 1936
16. जीवन-भारती 1937
17. जीवन-संस्कृति 1939
18. सद्‌बोध शतकम् 1941
19. गीताधर्म (मराठी गीताचें समाज रचनाशास्त्र के आधार पर) 1944
20. संकलिता भगवद्‌गीता 1945
21. मानवी खंडियेरो (पेरी बरजेस के 'हू वॉक अलोन' का श्री कि. घ. मशरूवाला के साथ किया गया अनुवाद) 1946
22. गीतासार 1947
23. श्री नेत्रमणिभाईने 1947
24. बापुनी झाँकी (मूल हिन्दी से अनूदित) 1949
25. पूर्व अफ्रीकामां 1951
26. धर्मोदय 1952

27. रखडवानो आनन्द 1953
28. जीवन लीला ('लोकमाता' की परिवर्द्धित आवृत्ति) 1956
29. जीवन-प्रदीप 1956
30. अवारनवार 1956
31. मधुसंचय 1957
32. उगमणो देश—जापान 1958
33. चि. चन्दनने 1958 (पत्र)
34. जीवन-चिंतन 1959
35. मीठाने प्रतापे 1959
36. रवीन्द्र सौरभ (मराठी से अनूदित) 1959
37. नारी गौरवनो कवि 1960
38. शुद्ध जीवन दृष्टिनी भाषा-नीति 1960
39. भारतीय संस्कृतिनो उद्गाता 1961
40. साहित्यमां सार्वभौम जीवन 1961
41. चिंतन अने पुरुषार्थमां समन्वय 1961
42. रविच्छविनुं उपस्थान अने तर्पण 1961
43. शर्कराद्वीप मोरीशियस 1962
44. जीवन-व्यवस्था 1963
45. विद्यार्थिनीने पत्रो 1964
46. स्मरण यात्रा (संक्षिप्त) 1967
47. भारत दर्शन भाग-1, 1967
48. भारत दर्शन भाग-2, 1967
49. भारत दर्शन भाग-3, 1968
50. भारत दर्शन भाग-4, 1968
51. गुजरातमां गांधीयुग 1969
52. परम सखा मृत्यु (हिन्दी से अनूदित) 1969
53. प्रासंगिक प्रतिसाद 1970
54. विरल सहवास 1971
55. वात्सल्यनी प्रसादी 1972
56. भजनांजलि 1974

57. प्रकृतिनो आनंद 1974
58. गांधी युगना ज्योतिर्धरो (गांधीयुग के जलते चिराग का अनुवाद) 1975
59. नारी जीवन परिमल 1977
60. ज्यां दरेकने पहोंचवुं छे 1977
61. संध्या छाया 1979
62. जीवननुं काव्य 1982
63. काका कालेलकर ग्रंथावलि भाग-1 से 15, 1985

काका साहब द्वारा संपादित पुस्तकें

1. बापुना पत्रो-1 आश्रमनी बहेनोने 1949
2. बापुना पत्रो-3 कुसुम बहेन देसाईने 1954
3. बापू के पत्र बजाज परिवार के नाम 1957
4. स्मरणांजलि 1957
5. आश्रम की बहनों से 1957
6. बापुना पत्रो-5 कु. प्रेमाबहेन कंटकने 1960
7. बापुना पत्रो-6 गंगा बहेनने 1960
8. गीता पदार्थ कोश 1960
9. बापू के पत्र—बीबी अमतुस्सलाम के नाम 1963

काका साहब द्वारा लिखित हिन्दी पुस्तकें

1. राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्शों का विकास 1928
2. जिन्दा बनो 1930
3. सहजीवन की समस्या 1937
4. सप्त सरिता 1937
5. कला : एक जीवन-दर्शन 1937
6. अजित वीर्य बाहुबलि (अनुवाद) 1942
7. दो आम (अनुवाद) 1947
8. जीवन का काव्य (अनुवाद) 1947
9. जीवन-विहार (अनुवाद) 1947

10. हिन्दुस्तानी की नीति 1947
11. हिन्दुस्तानी के प्रचारक गांधीजी 1948
12. बापू की झाँकियाँ 1948
13. हिमालय की यात्रा (अनुवाद) 1948
14. नागरी वर्णलिपि बोध 1951
15. उस पार के पड़ोसी 1951
16. कैद की आजादी (उत्तर की दीवारें) (अनुवाद) 1951
17. स्मरण-यात्रा (अनुवाद) 1953
18. हिमालय निवासियों से 1954
19. जीवन-साहित्य 1955
20. लोक-जीवन 1955
21. जीवन संस्कृति की बुनियाद 1955
22. नक्षत्र माला 1958
23. जीवन-लीला (अनुवाद) 1958
24. धर्मोदय 1958
25. सूर्योदय का देश 1959
26. गांधीजी की अध्यात्म-साधना 1959
27. स्वराज्य-भाषा 1959
28. सद्बोध शतकम् 1961
29. कठोर कृपा 1961
30. गीता-रत्न-प्रभा 1961
31. आश्रम-संहित। 1962
32. नमक के प्रभाव से 1962
33. प्रजा का राज प्रजा की भाषा में 1962
34. उड़ते फूल 1964
35. यात्रा का आनन्द 1965
36. समन्वय 1965
37. सत्याग्रह-विचार और युद्ध-नीति 1965
38. परम सखा मृत्यु 1966

39. शांतिसेना और विश्वशांति 1966
40. समन्वय संस्कृति की ओर 1967
41. गीता के प्रेरक तत्व 1967
42. राष्ट्रभारती हिंदी का मिशन 1967
43. जीवन-व्यवस्था (अनुवाद) 1967
44. युगमूर्ति रवीन्द्रनाथ 1969
45. जीवन-योग की साधना 1969
46. विनोबा और सर्वोदय क्रांति 1970
47. गांधी-युग के जलते चिराग 1970
48. गांधी चरित्र कीर्तन 1970
49. गांधीजी का जीवन-दर्शन 1970
50. गांधीजी का रचनात्मक क्रांतिशास्त्र (दो खण्डों में) 1971
51. नवभारत के चन्द निर्माता 1972
52. युगानुकूल हिन्दू जीवन-दृष्टि 1972
53. स्वराज्य संस्कृति के संतरी 1973
54. प्रकृति का संगीत 1976
    (मलयालम में भी अनूदित)
55. ईशावास्य उपनिषद् 1976
56. उपनिषदों का बोध 1977
57. महावीर का जीवन-संदेश 1982
58. महाराष्ट्र के संत 1984
59. गीता धर्म (अनुवाद) 1986
60. नव सर्जन की अनिवार्यता 1989
61. साहित्य एक समग्र जीवन-दर्शन 1989
62. चिंतन सागर 1989
63. विष्णु सहस्र नाम—एक दार्शनिक विवेचन 1989
64. पूर्णावतार श्रीकृष्ण 1989
65. राष्ट्रीय चरित्र निर्माण के बुनियादी तत्व 1991
66. स्त्री-पुरुष सहजीवन का सौरभ 1993

67. समय चिंतन 2008
68. अनन्त का विस्तार 2007
69. जहाँ हर एक को पहुँचना ही है 2007
70. काका कालेलकर ग्रंथावली, खंड 1-11 1987 से 2002

काका साहब द्वारा लिखित मराठी पुस्तकें

1. स्वामी रामतीर्थ : जीवन चरित्र 1907 (श्री गुणाजी के साथ)
2. गीताचें समाज रचनाशास्त्र 1933
3. हिंडलग्याचा प्रसाद 1934
4. उत्तरेकडील मिंती 1934
5. साहित्याचें मूलधन 1938
6. जिवंत व्रतोत्सव 1940
7. हिमालयातील प्रवास 1942
8. जीवन विहार (अनुवाद) 1943
9. ब्रह्मदेशचा प्रवास (अनुवाद) 1943
10. जीवन आणि समाज (अनुवाद) 1943
11. समाज आणि समाजसेवा (अनुवाद) 1943
12. जीवन-संस्कृति (अनुवाद) 1943
13. वन शोभा 1944
14. भक्ति कुसुमें (अनुवाद) 1944
15. आमच्या देशाचें दर्शन (अनुवाद) 1944
16. लाटांचे तांडव (अनुवाद) 1945
17. हिन्दुचें समाज कारण (अनुवाद) 1945
18. सामाजिक प्रश्न (अनुवाद) 1946
19. लोकमाता (अनुवाद) 1947
20. जीवनांतील आनंद (अनुवाद) 1947
21. सप्रेम वन्देमातरम् 1947
22. साहित्याची कामगिरी 1948
23. स्मरण यात्रा 1949

24. बापूजीं चीं ओझरती दर्शनें 1950
25. मृगजलांतील मोती (जिब्रान) 1951
26. मालंच (रवीन्द्रनाथ) 1952
27. लोक जीवन 1952
28. रवीन्द्र प्रतिभेचे कोंवले किरण 1955
29. जीवन लीला (गुजरातो से अनूदित) 1958
30. पुण्यभूमि गोमंतक 1958
31. रवीन्द्र मनन 1958
32. रवीन्द्र वीणा 1961
33. रवीन्द्र झंकार 1962
34. खेलकर पानें 1964
35. भारत दर्शन भाग-1, 2, 3, क्रमशः 1965, 66 व 67
36. संत मानस तुकाराम 1967
37. भारत दर्शन भाग-4, 1967
38. स्मरण यात्रा (संक्षिप्त) 1967
39. नैवेद्य 1968
40. भारत दर्शन भाग-5, 1968
41. परम सखा मृत्यु 1968
42. भारत दर्शन भाग-6, 1970
43. भारत दर्शन भाग-7 (गुजराती से अनूदित जीवननो आनन्द का एक हिस्सा) 1970
44. आंतरजगांतील यात्रा 1972
45. नवभारताचा उद्गाता 1973
46. मनोबोध 1991

कोंकणी

1. उत्तर दिकाच्यो वणत्यो (अनुवाद) 1959

उर्दू

1. बापू की झाँकियाँ (अनुवाद) 1958
2. बापू दर्शन

कन्नड़

1. जीवन-लीला

तमिल

1. जीवन-लीला 1971

मलयालम

1. गीता-रत्न-प्रभा
2. जीवन-लीला
3. जीवन का काव्य
4. बापू की झाँकियाँ 1961
5. जीवन-संस्कृति की बुनियाद 1966
6. गांधीजी का व्यक्तित्व और आध्यात्मिक साधना 1966
7. हिमालय की यात्रा
8. नयी बुनियाद की तालीम
9. स्मरण यात्रा
10. प्रकृति का संगीत 1977

संस्कृत

1. उपनिषद् पाठावलि 1922
2. संकलिता भगवद्गीता 1945

अंग्रेजी

1. स्ट्रे ग्लिम्प्सेस ऑफ बापू 1950
2. अवर नेक्स्ट शोर नेबर्स 1954
3. ए ग्लिम्प्स ऑफ गांधीजी 1960
4. ईवन बिहाइण्ड दि बार्स 1961
5. दि नागरी एल्फाबेट्स 1961
6. दि गीता एज जीवन योग 1967

7. परम सखा मृत्यु 1982
8. गोशपेल ऑफ स्वदेशी 2004
9. Quintessence of Gandhi Thought 2005
10. Religious harmony Urge of the Age 2006
11. Profiles in Inspiration 2006

3. काका कालेलकर के बारे में लिखे हुए ग्रंथ

गुजराती

1. काका कालेलकर अध्ययन ग्रन्थ (अभिनन्दन ग्रन्थ) 1961
2. काका कालेलकर (संक्षिप्त जीवनी) 1965
3. काका कालेलकर–जीवन अने साहित्य–डॉ. जयन्त पटेल 1974
4. काका कालेलकर–डॉ. चन्द्रकान्त मेहता 1980
5. परिव्राजकनुं पाथेय–डॉ. ज्योति थानकी 1981
6. काका कालेलकर–श्री विष्णु प्रभाकर 1985
   (भारत की चौदह भाषाओं में–अनु. डॉ. चन्द्रकान्त मेहता 1992)

हिन्दी

1. संस्कृति के परिव्राजक (अभिनन्दन ग्रन्थ) 1965
2. समन्वय के साधक (अभिनन्दन ग्रन्थ) 1979
3. काका कालेलकर–श्री विष्णु प्रभाकर 1985
4. काका कालेलकर (जीवनी)–रवीन्द्र केलेकर 1987
5. गांधी युग के जंगम विद्यापीठ में–रवीन्द्र केलेकर
6. आचार्य श्री काका साहब कालेलकर के सान्निध्य में–पदमचन्द्र सिंघी 2002
6. आचार्य श्री काका साहब कालेलकर के सान्निध्य में–पदमचन्द्र
7. काका कालेलकर (जीवनी)–रवीन्द्र केलेकर 1990

अंग्रेजी

1. A Gandhian Patriarch (Biography) 1965

मराठी

1. ज्ञान निधीच्या सान्निध्यांत—श्री रवीन्द्र केलेकर की काका साहब के साथ बातचीत 1970
2. आचार्य काका कालेलकरांचे जीवन चिंतन—डॉ. ग. ना. जोशी 1991
3. काका कालेलकर : व्यक्ति आणि कार्य—मृणालिनी जोगलेकर 1998

□□